जीवन चक्र

(क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम)

कृपाल सिंह

विषय सूची

परम संत कृपाल सिंह जी महाराज

(1894-1974)

विद्यालय की औपचारिक शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद 17 वर्ष की आयु में आपने फ़ैसला किया, "प्रभु पहले और संसार बाद में" और आध्यात्मिक परिपूर्णता के लिए तीव्र खोज शुरू कर दी। आप अनेकों धर्म, मतों और विचार धाराओं के महापुरुषों और योगी जनों से मिले और उनके दावों को बारीक़ी से जाँचा, परखा। आपकी यह सच्ची खोज अंत में, सन् 1924 ई. में आपको ब्यास के महान संत, हुज़ूर बाबा सावन सिंह जी महाराज (1858-1948) के चरणों में ले गई। अगले चौबीस वर्षों तक आपने हुज़ूर के मार्गदर्शन में अपना आध्यात्मिक विकास किया और उनके मिशन में विभिन्न प्रकार के सेवा कार्य किए।

हुज़ूर बाबा सावन सिंह जी ने आकाशवाणी की थी कि संसार में आध्यात्मिक जागृति होने वाली है और उन्हीं के आदेश पर, सन् 1948 में संत कृपाल सिंह जी ने आध्यात्मिक कार्यभार संभाला और संतों के शाश्वत संदेश को एक संपूर्ण विज्ञान के रूप में पेश किया। आपने तीन विश्व दौरे किए (1955, 1963 एवं 1972), और अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं में, अध्यात्म के हरेक मुख्य विषय पर, अनेकों पुस्तकें प्रकाशित कीं। आपने अस्सी हज़ार चार सौ छियालीस जिज्ञासुओं को दीक्षित किया तथा लाखों लोगों ने गवाही दी कि उनका जीवन सुधर गया है।

परम संत कृपाल सिंह जी ने 'वर्ल्ड काउंसिल ऑफ़ रिलिजन्स' (विश्व धर्म संघ) की स्थापना की और इसके पहले चार सम्मेलनों (1957, 1960, 1965 एवं 1970) की अध्यक्षता भी की। 1970 में आपने देहरादून में 'मानव–केन्द्र' की स्थापना की, जिसके द्वारा आपने संदेश दिया कि हम एक सच्चे इंसान बनें और इंसान, ज़मीन एवं जानवरों की सेवा भी करें।

परम संत कृपाल सिंह जी से पहले, संसार में भौतिकवाद छाया हुआ था, रूहानियत लोप हो चुकी थी और एक धर्म का नेता दूसरे धर्म के लोगों से बात करने को तैयार नहीं था। यह उनकी कोशिशों का फल है कि आज संसार में आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति पहले से बहुत अधिक जागरूकता है और आज विभिन्न धर्मों के अगुआ एक दूसरे से वार्ता करने के लिए तैयार रहते हैं।

परम संत कृपाल सिंह जी का रूहानी मिशन, जो कि छब्बीस वर्ष चला, 21 अगस्त, 1974 को समाप्त हो गया। उनके कार्य को अगामी 15 वर्षों तक (1974 से 1989 तक) दयाल पुरुष संत दर्शन सिंह जी ने आगे बढ़ाया। आज भी उनका मिशन संत राजिन्दर सिंह जी के नेतृत्व में फल–फूल रहा है।

प्रस्तावना

न्याय तथा दया

संत कृपाल सिंह जी महाराज द्वारा कृपाल आश्रम, कलाई, वरमोंट, संयुक्त राज्य अमरीका में 12 अक्टूबर, 1963 को दिया गया एक सत्संग।

एक न्याय का विधान होता है; और एक होता है दया का विधान; दोनों ही विधान हैं। ये ऐसे हैं, जैसे जब आप एक मोमबत्ती को जलाते हैं, तो ज्योति ऊपर की ओर अंधेरा नीचे की ओर होता है और जब बल्ब जलाते हैं, तो ज्योति नीचे और अँधेरा ऊपर होता है। इस प्रकार दोनों ही विधान (क़ानून) इस दुनिया में कार्यरत हैं।

एक बीज को बोना– यह एक नुक़्ता है, जो ठीक तरह से समझ लेना चाहिए– जब आप एक बीज बोते हैं, यह अपने जैसे अनेक बीज उपजाता है। यहाँ एक क्रिया, प्रतिक्रिया है; फिर एक प्रतिक्रिया। और इस प्रकार यह चलता जाता है। इसका कोई अन्त नहीं। बीज बोने के पश्चात व्यक्ति खेती करने से रुक नहीं सकता– उसका फल अवश्यम्भावी है। इस प्रकार अनेक प्रकार की क्रियाएँ हैं। क्रियाएँ एक प्रकार की भले ही हों, परन्तु उनके तीन पक्ष हैं।

कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जो हम अब कर रहे हैं या'नी रोज़मर्रा के ताज़े– आप कह सकते हैं कि ताज़े बीज बोए जा रहे हैं। कुछ बोए जा चुके हैं और फल दे रहे हैं। कुछ अन्य भी बोए जा चुके हैं, परन्तु उनका फल अभी नहीं मिला है। इस प्रकार तीन प्रकार की क्रियाएँ या कर्म होते हैं– 'क्रियमान', 'प्रारब्ध' तथा 'संचित'।

हमारा वर्तमान जीवन पिछले कर्मों पर आधारित है, जो अब फल दे रहे हैं। इन्हें प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। इन कर्मों पर ही हमारी जीवन–आयु आधारित है। इसके अनुसार, कुछ लोगों की संतानें होती हैं, कुछ मर जाते हैं, कुछ देखने में भद्दे हैं, कुछ बूढ़े हैं, कुछ का लेन–देन बाक़ी है। यह उन कर्मों या बीजों पर आधारित है, जो भूतकाल में उग चुके हैं और वर्तमान में फल दे रहे हैं। इनको आप बदल नहीं सकते। जब एक रेल की पटरी बिछा दी जाती है, तो

रेलगाड़ी उस पर चलेगी ही। रेल की पटरी बिछाने से पहले, यह आप पर निर्भर है कि आप उसे एक या दूसरे प्रकार से बिछाएँ। परन्तु जब एक बार यह बिछा दी जाती है, रेलगाड़ी को उस पर दौड़ना ही होगा। तो जैसा मैंने कहा, कुछ कर्म फल दे रहे हैं (प्रारब्ध कर्म); कुछ हम ताज़े कर रहे हैं (क्रियमान कर्म), और अन्यों ने अभी कोई फल नहीं दिया– वह आने वाले समय में मिलेगा (संचित कर्म)।

इस प्रकार हम कुछ हद तक स्वतन्त्र हैं, कुछेक कर्मों को करने के लिए, और कुछ हद तक हम बंधे हुए हैं। क्रिया–प्रतिक्रिया, क्रिया–प्रतिक्रिया होती रहती है– इसका कोई अन्त नहीं है।

जब एक गुरु किसी को मिलता है, वह उसके प्रारब्ध कर्मों को, जो घटित होने वाले हैं, नहीं छूता; क्योंकि हमारा जीवन इन्हीं पर आधारित है। वह इन्हें छोड़ देता है, इन्हें घटने देता है। परन्तु वह दो चीज़ें करता है; भविष्य के लिए वह एक आचरण–रेखा खींच देता है, जिसके परे हमें जाना नहीं है; किसी का बुरा ना सोचो– मन से भी नहीं, वचन और कर्म से भी नहीं। सत्यवादी बनो, मन से भी कोई ग़लत काम न करो– अभिनय या भाव से, कपट के रूप में, अंदर से कुछ और बाहर से कुछ और।

और फिर, पवित्र रहो, मन, वचन और कर्म से। और सबसे प्रेम करो क्योंकि सभी मनुष्य एक समान हैं। उनको भी वही अधिकार मिले हैं, जो हममें से प्रत्येक को। इस लिए सबसे प्रेम करो क्योंकि प्रभु उन सबके हृदय में बसता है– चाहे वे अमीर हों या ग़रीब, चाहे वे पढ़े–लिखे हों या अनपढ़ हों– उन सबको प्रभु से वही अधिकार प्राप्त हैं, जोकि आपको।

और फिर, दूसरों से घृणा मत करो– न ही मन से, न वचन से, न कर्म से। और आगे, जब आपको प्रभु से प्रेम करना है और सम्पूर्ण इंसानियत से प्रेम करना है, तो आपको निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिए, न कि स्वार्थ के लिए सेवा, क्योंकि प्रेम, सेवा और बलिदान जानता है। स्वार्थी सेवा से फिर एक प्रतिक्रिया उपजेगी। यदि आप निष्काम भाव से सेवा करते हैं, अन्यों में बसते प्रभु के लिए, तो यह फलदायी नहीं होगा।

वर्तमान में जो कर्म फल दे रहे हैं, ये भी हल्के कर दिए जाएंगे या कम कर दिए जाएंगे, आप कह सकते हैं, गुरु के द्वारा। यह कैसे सम्भव है? आपकी आत्मा को 'जीवन की रोटी' प्रदान करके, जिससे कि आपकी आत्मा बलशाली हो जाती है।

मान लीजिए, एक झगड़ा हो रहा है। एक आदमी बहुत कमज़ोर है और बाक़ी ताक़तवर। वे मारधाड़ करने लगते हैं। जो बिचारा कमज़ोर व्यक्ति है, वह एक मुक्का खा कर अचेत हो जाता है और चिल्ला उठता है 'हाय! मैं मर गया,' और अन्य, जो ताक़तवर हैं, कहते हैं, "हमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। हमने तो कितने ही मुक्के खाए हैं, परन्तु हम इनकी बिल्कुल पर्वाह नहीं करते।" ऐसा क्यों है? क्योंकि वे ताक़तवर हैं।

प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं, परन्तु जिनकी आत्मा बलशाली है, जिनके पास जीवन की रोटी है, उनके लिए उनकी चुभन समाप्त हो जाती है। भविष्य के आचरण के लिए, गुरु एक लक्ष्मण–रेखा खैंच देता है। वर्तमान के लिए, जो फल मिल रहा है, उसके लिए वह आत्मा की ख़ुराक़ देता है, जिससे वह बलशाली हो जाए और उसकी चुभन समाप्त हो जाए। और उनके लिए, जो अभी फल नहीं दे रहे, वह शिष्य को प्रभु से एक आंतरिक सम्पर्क दे देता है। अंतर में प्रभु से सम्पर्क प्राप्त कर– जब उसका 'दिव्य–चक्षु' खुलता है, वह देखता है कि प्रभु ही सब कुछ का कर्ता है, हम सब उसकी हाथों की मात्र कठपुतलियाँ हैं। वह प्रभु की दिव्य योजना का सचेतन सहकर्मी बन जाता है। इसका परिणाम यह है कि कोई अहम् भाव नहीं रहता। और सभी ऐसे कर्म जिनके बीज भूतकाल में बोये गए थे और अभी तक फल के इंतज़ार में हैं, वे सभी जल जाते हैं। उनका फल भुगतने के लिए कौन बचा है?

तो इस प्रकार आप भूत की प्रतिक्रिओं से बच सकते हैं। यदि आप कहते हैं "ओह! मैं यह या वह कर सकता हूँ"— जिसमें थोड़ा सा अहम् भाव होता है, जब तक आप 'कर्ता' बने रहते हैं, आपको कर्मों का फल लेना ही होगा। जब कोई कर्ता नहीं बचता, तब स्वयं प्रभु कर्ता बन जाता है। आपको बख़्श दिया जाता है।

मुसलमानों के धर्मग्रंथ कुरान में एक कथा आती है। एक संत हुआ करता था, जो बचपन में ही दुनिया को छोड़ कर एक जंगल में चला गया– जैसा कि यह है। यहाँ (अर्थात कृपाल आश्रम में) सौभाग्य से आपको पर्याप्त पानी बिजली और बाक़ी सब कुछ मिल जाएगा; पर वहाँ ऐसा कुछ नहीं था और मीलों तक कोई पानी नहीं था और न ही कुछ खाने को था।

तो वह प्रभु से प्रार्थना किया करता था, और प्रभु ने उसकी देखभाल के लिए कुछ इंतज़ामात कर दिये। एक छोटी सी जलधारा बह निकली, जिसमें से बहुत मीठा पानी निकलता था और वह उससे पानी पिया करता था।

और कहा जाता है कि एक अनार का पेड़ हुआ करता था, जिसमें रोज़ एक अनार उगता था। वह अनार खाता और पानी पीता और इस प्रकार वह अपने दिन गुज़ारता था।

कहा जाता है कि लंबे, बहुत लंबे सालों के बाद— 70 या 80 साल बाद, वह मर गया। उसे प्रभु के दरबार में ले जाया गया। प्रभु ने उसे देखा और कहा, ″ठीक है, हम दया करके आपको माफ़ कर देते हैं।″

उसकी आँखें खुली रह गईं, ″अच्छा! ज़िंदगीभर मैं इस प्रकार या उस प्रकार की तपस्या करके अपने आपको मारता रहा– और इस सब के पश्चात, मुझे दया करके माफ़ किया जा रहा है– दया करके?″ अपने हृदय के अंतरतम में उसने सोचा कि शायद एक महान अन्याय किया जा रहा है।

प्रभु ने उसका मन पढ़ लिया और कहा, ″अच्छा, क्या आप चाहोगे कि हम आपके कर्मों का हिसाब कर दें?″

″ जी हाँ, कृपया ऐसा ज़रूर कीजिए,″ (दिल से वह यही चाहता था)। ″ठीक है, ध्यान दो। उस जंगल में मीलों–मीलों तक कोई जलस्रोत नहीं था। एक सोता बनाया गया, सिर्फ़ आपके लिए– वास्तव में आपके लिए ही। और एक अनार का पेड़ था, जो रोज़ एक बड़ा अनार देता था– कोई भी पेड़ एक फल रोज़ नहीं देता। तो ये सब, जो आपने किया, ये सब उसका मुआवज़ा है। तो चलो, अब हम आपके अन्य कर्मों का हिसाब लें। आप रास्ते पर चल रहे थे; कोई कीड़ा मर गया– आपके पैरों तले रौंदा गया। अब आपको भी रौंदा जाना चाहिए, जैसा आपने रौंदा था। इसके अलावा आपने यह किया, वह किया...।

संत ने सोचा कि शायद मामला बदतर हो चला है, कहने लगा, ″कृपया मुझे माफ़ कर दें, यदि आप चाहें।″

गुरु क़ानून तोड़ने नहीं आते, बल्कि क़ानून के अन्दर रहते हुए अपना काम करते हैं। वे अपनी दया–मेहर से काम लेते हैं और कर्मों के विधान को नहीं छेड़ते। गुरु नानक कहते हैं, ″कर्मों के साथ प्रतिक्रिया होती है। जैसा बोओगे, वैसा काटोगे। परन्तु इनसे मुक्ति दया से ही मिलती है।″ सभी गुरु ऐसा ही कहते हैं।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें दुष्ट होना चाहिए। हमें सिर्फ़ गुरुओं की आज्ञा का पालन करना चाहिए।

एक अन्य वस्तु जिसके बारे में आप जानना चाहेंगे, वह यह है : एक पिता का बच्चा है, जो उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता। वह कोई दुराचार करता

है– ऐसा ही कुछ। अब पिता क्या करेगा? क्या वह उसे पुलिस को सौंप देगा? मुझे ऐसा नहीं लगता। कोई भी पिता अपने पुत्र को पुलिस को नहीं सौंपेगा। वह उसे एक या दो चाँटे मार सकता है, पर वह उसे पुलिस के पास नहीं भेजेगा।

तो इसी प्रकार, जब आप एक गुरु के पास आते हैं– उसमें बसते प्रभु के पास– आप उसकी संतान हैं। वह आपको बोए गए बीजों का फल भोगने नहीं भेजेगा। यह एक रिआयत है। नहीं तो आप कब तक इस प्रकार चलते रहेंगे? पहले एक बीज होता है, फिर एक पेड़, फिर अनेक बीज होते हैं और फिर एक पेड़। अंडा मुर्गी से पहले या मुर्गी अंडे से? इसका अंत कहाँ है? तो यह दया के द्वारा मुक्ति का मामला है। यह कुछ ऐसा ही है, ताकि आप इसे समझ सकें। जब तक आप दिव्य योजना के सचेतन सहकर्मी नहीं बन जाते, तब तक कोई बचाव नहीं है, कोई मुक्ति नहीं है। "जैसा बोओगे वैसा काटोगे"– यह इसी प्रकार युग–युगांतर तक चलता रहता है।

प्रश्न : क्या हमें अपने सारे कर्मों को इस भौतिक जगत में भुगताना पड़ता है– जैसे कि 'ख' प्रकार का कर्म, जिसे हम इस जीवन में निपटा रहे हैं, जो चीज़ें हमने इस जीवन में की हैं। यदि हम उन्हें मरने तक निपटा नहीं पाए, तो उनका क्या होगा?

महाराज जी : मेरे ख़्याल में मैंने आपका उत्तर दे दिया है और आप इसे समझ नहीं पाए। जब आप दिव्य योजना के सचेतन सहकर्मी बन जाते हैं, जब आप निःस्वार्थ बन जाते हैं, आपके किए कर्मों को कौन भोगेगा? इसलिए सत्गुरु कहते हैं, "इच्छारहित रहो।" सत्गुरु आपके पुराने कर्मों को निपटाने की कोशिश करते हैं– जैसा मैंने कहा, आपको सशक्त करके– आपकी आत्मा को जीवन की रोटी देकर– ताकि आने वाली प्रतिक्रियाएँ आपको चुभें नहीं। पर वह उन्हें नहीं छेड़ता। नहीं तो जैसे ही किसी भी व्यक्ति को नामदान मिलेगा, वह मर जाएगा। इस कारण उन्हें छेड़ा नहीं जाता। भविष्य के आचरण के लिए वह एक रेखा खींच देता है। भूत के लिए, यदि आप निःस्वार्थ हो जाते हैं– आप एक सचेतन सहकर्मी बन जाते हैं– तो कुछ भी फलित नहीं हो पाएगा।

गुरु नानक कहते हैं :

कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै।।

– आदि ग्रंथ (बिलावल सदना, पृ.858)

वे एक उदाहरण भी देते हैं :

सिंघ सरन कत जाईऔ जउ जंबुकु ग्रासै।।

— आदि ग्रंथ (बिलावल सदना, पृ.858)

तो यह एक महान आशीर्वाद है। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि गुरु क्या है? गुरु भी आपके जैसा इंसान है। हम सभी को भी वही नेमतें मिली हैं। अंतर मात्र इस बात का है कि यद्यपि प्रभु प्रत्येक हृदय में बसता है, पर एक गुरु के हृदय में वह प्रकट हो चुका है।

गुरु एक सचेतन सहकर्मी है अर्थात प्रभुकर्ता है। यह वह नहीं है, जो बोलता है, बल्कि उसमें बसता प्रभु है, जो बोलता है। वह प्रभु का प्रवक्ता बन जाता है। हम भी प्रभु के प्रवक्ता बन सकते हैं। हरेक संत का भूत होता है; और हरेक पापी का एक भविष्य।

वह प्रभु का प्रवक्ता कैसे बन जाता है? एक व्यक्ति जो उस अवस्था तक पहुँच जाता है, वह भी वही चीज आपको दे सकता है। पहले ही दिन, जब वह आपको दीक्षित करता है, वह आपकी आत्मा को देहध्यास से निकाल कर, प्रभु की 'ज्योति' और 'श्रुति' की सत्ता का अनुभव देता है। यह परम प्रभु तक लौटने का मार्ग है। जब आप इस सब का अनुभव प्राप्त कर लेंगे, आप देखेंगे, "यह प्रभु है जो कर रहा है, मैं नहीं।" तो जब सभी प्रतिक्रियाएँ समाप्त हो जाएंगी, यह ऐसा होगा, जैसा कि कुछ बीजों को एक अंगीठी में भून दिया गया हो। यदि आप उनको बोएंगे भी, तो भी वे फलदायी नहीं रहेंगे; वे नहीं उगेंगे। यह कुछ ऐसा ही है।

सृष्टि में सब कुछ एक उचित क़ानून का फल है- निमित्त का क़ानून, क्रिया-प्रतिक्रिया का क़ानून, कर्मों का क़ानून।

— गौतम बुद्ध

अध्याय - 1

कर्म-चक्र

सृष्टि में सब कुछ एक न्यायसंगत विधान का ही फल है, जिसे निमित्त का विधान, कार्य-परिणाम का विध ाान या कर्मों का विधान कहते हैं।

– गौतम बुद्ध

धोखा न खाओ, प्रभु कोई परिहास की वस्तु नहीं है। क्योंकि मनुष्य जैसा कुछ बोता है, वैसा ही काटता है।

– पवित्र बाइबिल (गलातियों 6:7)

इस धरती पर जीवन की जटिलता से लड़ते हुए मनुष्य इनसे मुक्त होने का उपाय ढूँढता रहता है। लेकिन जब भी वह इसके लिए प्रयत्न करता है, कुछ अदृश्य अवरोध उसके इस प्रयास को नाकाम कर देती हैं। संसार में इतनी प्रतीत होती असमानताएँ क्यों हैं? इंसान का अपने असली घर, अपने परम पिता के घर लौटने का रास्ता इस तरह बाधित क्यों है? क्यों इंसान अपने अतीत से मुक्ति पाने में असमर्थ है। अपने जीवन के मूल स्रोत, उस जीवनदायक प्रकाश को वह कहाँ खोजे? ये सब प्रश्न जिज्ञासु के मन को कर्म–विधान, क्रिया–प्रतिक्रिया के शाश्वत नियम को जानने के लिए प्रेरित करते हैं।

प्रायः हर भारतीय दर्शन व धर्म के ग्रंथ में "कर्म" शब्द का उल्लेख मिलता है। परन्तु हमारे पुजारियों व धर्म प्रचारकों ने "कर्म" शब्द पर इतना अधिक ज़ोर दिया है कि अधिकांश लोग इसे अपनी आत्मिक मुक्ति के पथ पर एक काल्पनिक रुकावट मान बैठे हैं। पश्चिम में लोगों के लिए यह शब्द अपरिचित होने के कारण, इसे स्पष्ट किये बग़ैर ही छोड़ दिया जाता रहा है। निचले दर्जे के महात्मा निष्काम कर्म के द्वारा मुक्ति पाने की बात करते हैं, लेकिन यह मात्र अधूरा ज्ञान है व पूर्ण सत्य नहीं है।

हमारा मन कर्मों का फल भुगतने और उनका स्वाद लेने का आदी हो चुका है। यह अपनी इस आदत को कैसे छोड़ सकता है? मन को विभिन्न शारीरिक

और मानसिक साधनाओं द्वारा कुछ हद तक क़ाबू किया जा सकता है, लेकिन लम्बी अवधि के पश्चात यह फिर से अपनी पुरानी आदत से दुनिया का रस लेने लगता है। हमारा मन वास्तव में सांसारिक प्रलोभनों को तभी छोड़ेगा, जब उसे कोई उच्चतर रस मिल जाए।

इह रस छाडे उह रसु आवा।।
उह रसु पीआ इह रसु नही भावा।।

– आदि ग्रंथ (गउड़ी कबीर, पृ॰342)

संतों ने 'नाम' अर्थात 'ज्योति' व 'श्रुति' के साथ जुड़कर उच्च कोटि के आनंद, परमानंद का अनुभव किया है। एक बार 'नाम' में खो जाने के बाद, मन संसार से उपराम हो जाता है। मन की आदत है कि यह एक के बाद दूसरे, सांसारिक पदार्थ के पीछे भागता रहता है। हमें मन की इस प्रवृत्ति को, जो कि इसका स्वाभाविक गुण है, रोकने की कोशिश नहीं करनी है, बल्कि इसकी दिशा बदलनी है; इसे बाहरी संसार से हटाकर अंतर्मुख करना है। इसका अर्थ है, मन के बहिर्मुखी फैलाव को रोकना, जिससे इसकी ऊर्जा का सही दिशा में उपयोग करके हम सदा की ख़ुशी और सरशारी हासिल कर सकें। ऐसा 'नाम' के निरंतर अभ्यास से ही संभव है। केवल यही एक तरीक़ा है जिससे हमारा मन को धीरे–धीरे प्रशिक्षित करके इसकी तरंगों को शांत किया जा सकता है। तब हमारी आत्मा, बिना किसी बाधा के, निजधाम की ओर प्रस्थान कर सकती है। इसीलिए ऐसे संत, जिन्होंने 'सुरत–शब्द योग' का मार्ग स्वयं तय किया है, न केवल हमें कर्म–चक्र से बाहर निकाल सकते हैं, बल्कि हमें अंतर्मुख करके परमात्मा से मिला भी सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि कर्मों को कैसे समेटा जाए या उनका हिसाब–किताब कैसे निपटाया जाए? प्रकृति के कर्म–विधान के महाजाल में हम बुरी तरह उलझे हुए हैं। इससे निकलने का एकमात्र रास्ता उन लोगों के लिए है, जो अपने आपको जानना और परमात्मा को पाना चाहते हैं। इस रास्ते की प्राप्ति या कर्मों के इस बीहड़ जंगल से, जो कि अनंत काल से फैलता जा रहा है, बाहर निकलने की युक्ति किसी समर्थ सत्गुरु की कृपा से मिल सकती है। जब एक बार अपनी शरण में लेकर, वह हमें दिव्य 'ज्योति' और 'शब्द' के साथ जोड़ देता है, तो हम मृत्यु के देवता, यमराज, जो कर्मानुसार न्याय करने की सत्ता है, की पहुँच से बाहर हो जाते हैं।

जीवन का हर कार्य (act), चाहे वह जानबूझ कर किया गए हो या अनजाने में, चाहे वह मन में उठी एक तरंग के रूप में हो, मात्र एक विचार हो या मुख से बोला कोई वचन हो या फिर वास्तव में शरीर द्वारा किया गए कार्य हो, सब कुछ "कर्म" की परिभाषा में आता है।

पाठक कहीं "कर्म" शब्द में ही उलझ कर न रह जाए, इसीलिए पहले इस शब्द को ठीक तरह समझना ज़रूरी है। शुरू–शुरू में "कर्म" शब्द धार्मिक पुस्तकों में वर्णित रीति–रिवाज़ों और यज्ञों के लिए प्रयुक्त होता था। बाद में इसमें सभी प्रकार के सामाजिक और आत्मशुद्धि कारक गुणों जैसे : सच्चाई, पवित्रता, आत्म–नियंत्रण, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, प्राणीमात्र से प्रेम तथा निःस्वार्थ सेवा एवं भलाई के उद्देश्य से किए गए सभी कार्यों को भी शामिल कर लिया गया। इस प्रकार, आत्मिक गुणों के विकास को अधिक महत्त्व दिया गया, जिनसे मन को वश में करके, उसकी शक्ति सही दिशा में लग सके, और इससे आत्मा की मुक्ति का हमारा उद्देश्य पूर्ण हो सके।

कर्मों को मुख्य रूप से निषिद्ध (prohibited), उचित (permitted) और ज़रूरी या आनिवार्यिक (prescribed)– तीन प्रकार का माना जाता है। सभी कर्म, जो निम्न कोटि के हैं या अपमानजनक हैं तथा धर्मग्रंथों में जिनसे बचने के लिए कहा गया है, प्रथम श्रेणी में आते हैं क्योंकि बुराई में लिप्त होना पाप है, जिसका परिणाम मृत्यु है। इन्हें 'कुकर्म' या 'विकर्म' भी कहा गया है। दूसरे प्रकार के कर्म वे हैं, जो ऊँचे मंडलों– जैसे स्वर्ग, बैकुंठ या बहिश्त की प्राप्ति में सहायक होते हैं। इन 'सुकाम कर्मों' या 'सुकर्मों' को मनुष्य अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए करता है। धर्मग्रंथों के अनुसार ये कर्म उचित हैं और इसलिए इन्हें करने की इजाज़त है। अंत में वे कर्म आते हैं जिन्हें प्रत्येक वर्ण* के लिए जीवन के अलग–अलग आश्रमों** या अवस्थाओं में करना ज़रूरी समझा गया है। ये वे 'नित्य कर्म' हैं, जिनका अपने दैनिक जीवन में पालन करना प्रत्येक के लिए आवश्यक है।

नैतिक आचार–संहिता के रूप में कर्म–विधान, मनुष्य के भौतिक और नैतिक उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है और उसके सुखमय भविष्य का मार्ग प्रशस्त करता है। जीवन के चारों पुरुषार्थों***– काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष की प्राप्ति में भी कर्म मुख्य भूमिका अदा करते हैं। निःसंदेह जीवन की पवित्रता, मनुष्य के ऊँचा उठने के प्रयास में एक प्रेरक शक्ति का कार्य करती है। अपने कर्मों से हमें

इच्छित फल की प्राप्ति तभी होगी, जब हम एकाग्र होकर, अपने उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, प्रेमभाव से कर्म करें।

इनके अतिरिक्त, एक और प्रकार के कर्म– 'निष्काम कर्म' हैं। ये वे कर्म हैं, जिन्हें मनुष्य फल की आशा किए बिना, इच्छारहित होकर करता है। किसी न किसी रूप में हमें बंधन में डालने वाले अन्य सभी प्रकार के कर्मों से निष्काम कर्म बेहतर हैं। कर्मों के चक्र से निकलने में ऐसे कर्म हमारी कुछ मदद तो करते हैं, लेकिन वे हमें कर्मों के असर से नहीं बचा सकते। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि कर्मों का, अपने आप में, किसी भी तरह का कोई बाँधने वाला असर नहीं है। हमें वही कर्म बंधन में डालते हैं, जिन्हें हम इच्छाओं या 'काम' के वशीभूत होकर करते हैं। "जेती मन की कल्पना, काम कहावे सोइ।" इसलिए हज़रत मूसा ने कहा, "इच्छा मत करो।" महात्मा बुद्ध और सिक्खों के दसवें गुरु, गुरु गोबिन्द सिंह जी ने भी "इच्छारहित" होने पर ज़ोर दिया है।

इस प्रकार मनुष्य की सभी कोशिशों का साधन और परिणाम (means and the end) कर्म ही हैं। कर्मों द्वारा ही हम कर्मों को जीतते हैं और उनके पार जाते हैं। कर्म विधान का उल्लंघन उतना ही असंभव है जितना कि अपनी छाया के ऊपर से गुज़रना। सबसे ऊँची अवस्था है, निहकर्म या कर्म रहित होना, जिसका अर्थ है, करन–कारण प्रभु–सत्ता के साथ जुड़कर, उसकी योजना के अनुरूप कार्य करना। इसका अर्थ है, सदा घूमते रहने वाले जीवन चक्र में एक स्थिर बिन्दु (केन्द्र, धुरी) की तरह, कर्म करते हुए भी कर्म रहित रहना।

'कर्म' और 'करम' शब्दों में भी भेद है। 'कर्म' एक संस्कृत शब्द है, जि. सका अर्थ है, क्रिया अथवा कार्य, जिसमें मन की तरंगें और कहे गए शब्द भी

---

* प्राचीन भारत में समाज को चार भागों या वर्णों में बाँटा गया था— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण वेदों को पढ़ने–पढ़ाने का कार्य करते थे, क्षत्रियों पर समाज की रक्षा का दायित्व था, वैश्य वे लोग थे जो व्यापार या खेती–बाड़ी में लगे थे और शूद्रों का काम इन तीनों की सेवा करना था।

** मनुष्य के जीवन को चार अवस्थाओं या आश्रमों में विभक्त किया गया था। प्रथम अवस्था में मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्त करता था; द्वितीय अवस्था में गृहस्थ आश्रम में रहकर वह पारिवारिक जीवन बिताता था; वानप्रस्थ आश्रम में, वह एकांत में रहकर अपना समय ध्यान आदि में लगाता; और चतुर्थ अवस्था में, सन्यास ग्रहण करके अपने आत्मिक ज्ञान के अनुभव को अन्य लोगों में बाँटने का नियम था। हर आश्रम 25 वर्ष का माना जाता था और इंसानी जीवन 100 वर्ष का।

*** मनुष्य के लिए चार प्रकार के पुरुषार्थ बताए गए हैं : पहला पुरुषार्थ, काम अर्थात अपनी इच्छाओं की पूर्ति; दूसरा, अर्थ या'नी आर्थिक व भौतिक रूप से तरक्क़ी करना; तीसरा धर्म अर्थात नैतिक और धार्मिक बल प्राप्त करना, जिस पर यह संसार टिका है, और अंत में, मोक्ष या मुक्ति को प्राप्त करना।

शामिल हैं, जबकि 'करम' फ़ारसी भाषा का शब्द है, जो दयामेहर या कृपा के लिए प्रयुक्त होता है।

अब कर्म की प्रकृति या गुण के बारे में कुछ बात की जाए : जैन धर्म के अनुसार कर्म, जड़ पदार्थ या माद्दे (matter) का गुण है, चाहे वह भौतिक (physical) हो या पराभौतिक (psychical), जो एक–दूसरे से कार्य एवं कारण (cause and effect) के रूप में जुड़े हैं। जड़ पदार्थ अपने सूक्ष्म व पराभौतिक रूप में समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है। जड़ पदार्थ की संगत से आत्मा भी प्रभावित होती है और सूक्ष्म जड़ पदार्थ आत्मा में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार जीव, पक्षी की तरह अपने लिए स्वयं ही घोंसला बनाता है और 'कर्मण शरीर' या सूक्ष्म शरीर में क़ैद हो जाता है। वह तब तक इस क़ैद में रहता है, जब तक कि वह अपने निज–रूप को पहचान कर, स्वयं के प्रकाश से चमकती हुई, एक शुद्ध आत्मा न बन जाए।

कर्मण शरीर या कर्म आवरण, जिसने आत्मा को ढ़क रखा है, आठ प्रकृतियों से मिलकर बना है, जो क्रमशः आठ प्रकार के कर्म–अणुओं से बनी हैं। इन प्रकृतियों का अपना भिन्न–भिन्न प्रभाव है। ये कर्म–आवरण दो तरह के हैं :

1. पहले वे कर्म जो हमारी दृष्टि में भ्रम पैदा करते हैं, जैसे :

(क) 'दर्शन आवरण' जो हमारी सामान्य बुद्धि पर पर्दा डालते हैं।

(ख) 'ज्ञान आवरण' जो सम्यक बुद्धि या विवेक में बाधक हैं।

(ग) 'वेदन्य कर्म' जो आत्मा की वास्तविक आनंदमयी प्रकृति को दबाकर इसमें सुख–दुख की लहरें उत्पन्न करते हैं।

(घ) 'मोहन्य कर्म' जो हमें श्रद्धा, आस्था और शुद्ध आचरण के मार्ग से डिगाते हैं।

ये सब कर्म धुँए से ढके शीशे के समान हैं, जिसमें से हम संसार और इसकी सभी वस्तुओं को देखते हैं।

2. दूसरे वे कर्म हैं, जो इंसान के विभिन्न पक्षों का निर्धारण करते हैं– उसकी शारीरिक बनावट, उसकी आयु, उसका सामाजिक रुतबा और आत्मिक रुझान। इन्हें क्रमशः 'नमन', 'आयुष', 'गोत्र' और 'अंतरीय' कहा जाता है।

इनके अतिरिक्त, इन कर्मों की शाखायें और उपशाखायें सैंकड़ों में हैं।

कर्म–अणु (karmic particles) समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त हैं और चाहते या न चाहते हुए भी, हर आत्मा, अपनी गतिविधियों के दबाव के अनुसार, इन्हें अपनी

ओर आकर्षित करती है। कर्मों की इस निरंतर घुसपैठ को तभी रोका जा सकता है, जब हमारी आत्मा सभी प्रकार की शारीरिक, मानसिक और ऐंद्रिय गतिविधियों से अपने आपको अलग कर लेती है और अपने ठिकाने पर स्थित हो जाती है; जबकि संचित कर्म को व्रत—उपवास, तप, स्वाध्याय, वैराग्य, प्रायश्चित, ध्यान इत्यादि द्वारा कम किया जा सकता है।

महात्मा बुद्ध ने भी कर्म–विधान पर विजय पाने के लिए निरंतर प्रयास और संघर्ष पर ज़ोर दिया है। हमारा वर्तमान, हमारे बीते हुए कल पर निर्भर हो सकता है; लेकिन अपने भविष्य का निर्माण हम स्वयं अपनी अंतर–प्रेरणा द्वारा कर सकते हैं। समय एक निरंतर प्रक्रिया है– भूतकाल बिना किसी रुकावट के हमें वर्तमान काल की ओर ले आता है और वर्तमान भविष्य की ओर। कर्मों का प्रभाव मन की उच्चतम स्थिति को प्राप्त करने पर ही समाप्त होता है, जो कि अच्छाई और बुराई, पाप और पुण्य दोनों से परे है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर सारी कशमकश समाप्त हो जाती है क्योंकि उस हालत में जो कुछ भी मुक्त आत्मा करती है, बिना किसी मोह के करती है। सतत घूमने वाला जीवन–चक्र, जो कर्मों की ऊर्जा से ही गति प्राप्त करता है, उस ऊर्जा का मिलना बंद होने पर, यह विशाल जीवन–चक्र स्वयं रुक जाता है क्योंकि उस अवस्था में जीव काल और कालातीत अवस्था के संधि–स्थल (intersection) पर पहुँच जाता है, जो एक सदा क्रियाशील रहते हुए भी स्थिर रहने वाला बिन्दु है। जीवन की कार्यशैली को समझने के लिए कर्म एक कुंजी, एक समाधान प्रस्तुत करते हैं और चेतनता की विभिन्न अवस्थाओं को पार करते हुए जीव पूर्णतयाः जागृत हो जाता है, अर्थात बुद्ध (ज्योतिर्मय या पवित्र ज्योति को देखनेवाला) बन जाता है। बुद्ध के लिए यह ब्रह्मांड, मात्र एक यंत्रवत प्रक्रिया न होकर, एक 'धर्म–काया' या शरीर है, जो धर्म अथवा जीवन सिद्धांत से अनुप्राणित है और उसी का मुख्य सहायक अंग बन जाता है।

संक्षेप में, कर्म–विधान प्रकृति का अटल और कठोर कानून है, जिससे कोई छुटकारा नहीं और न ही इसका कोई अपवाद है। "जैसा तुम बोओगे वैसा काटोगे, " यह सदियों पुरानी कहावत है। यह इस धरती पर जीवन का एक सामान्य नियम है। यही नियम ऊपर के कुछ मंडलों में भी, जहाँ माया और चेतनता– दोनों हैं, लागू होता है। कर्म–विधान मनुष्य और देवता– दोनों से ऊपर है क्योंकि देवता भी देर–सवेर इसके दायरे में आ ही जाते हैं। देवी–देवताओं को दिव्य लोकों में,

मनुष्य से कहीं अधिक समय तक कार्य करना पड़ता है और जन्म–मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिए उन्हें भी मनुष्य शरीर धारण करना पड़ता है।

सभी कार्य, क्रियाएँ या कर्म, संसार के दोषरहित संचालन हेतु, उस दैविक योजना के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। क्षणमात्र के लिए भी कोई शारीरिक अथवा मानसिक कार्य किए बिना नहीं रह सकता। व्यक्ति हमेशा या तो कुछ सोचता रहता है या किसी कार्य में लगा रहता है। मन को ख़ाली या निष्क्रिय नहीं रखा जा सकता और न ही इंद्रियों को उनके स्वाभाविक गुण या कार्य से रोका जा सकता है– आँखों का कार्य देखना और कानों का सुनना है और मुश्किल तो यह है कि जो एक बार कर दिया, पेनलॉप* की तरह हम उसे मिटा नहीं सकते। पश्चाताप करना भला है, पर जो हो चुका है उसे मिटाने में यह भी असमर्थ है। हम कुछ भी सोचते, कहते या करते हैं, नेक या बद, अच्छा या बुरा, वह हमारे मन पर एक गहरी छाप छोड़ जाता है और यही संचित संस्कार इंसान को बनाते हैं या उसका विनाश करते हैं। जैसे विचार होंगे, जीवन भी वैसा ही होगा। अंतर्मन की अवस्था का रंग मनुष्य की बातचीत में झलकता है। हर क्रिया की प्रतिक्रिया है, क्योंकि यही प्रकृति का 'कार्य और कारण का नियम' ('Law of Cause and Effect') है। इसलिए प्रत्येक को अपने कर्मों का फल– मीठा या कड़वा, अच्छा या बुरा, अवश्य भोगना पड़ता है।

तब क्या इसका कोई समाधान नहीं है? क्या मनुष्य महज़ एक कठपुतली है, उस भाग्य के हाथ में, जो पहले से निर्धारित है? इसके दो पहलू हैं– व्यक्ति कुछ हद तक अपने कर्मों के चुनाव में मुक्त है, जिनसे वह अपनी इच्छानुसार अपना भविष्य बना या बिगाड़ सकता है। इतना ही नहीं, वह कुछ हद तक अपने वर्तमान को भी, अपने हित के लिए मनचाही दिशा दे सकता है। उसमें परमात्मा का अंश (आत्मा) होने के नाते, वह कर्मों से भी अधिक बलवान है। उसमें स्थित अनंत प्रभुसत्ता, उसे सीमित की हद के परे जाने में सहायक होती है। कर्म करने की स्वतंत्रता और कर्म–बंधन, उसमें स्थित सच्चाई के ही दो पक्ष हैं। उसका सिर्फ़ मशीनी या भौतिक अंश कर्मों से प्रभावित होता है, जबकि उसका मूल, वास्तविक स्वरूप (आत्मा) इससे निर्लेप रहता है और कर्मों के बोझ का उस पर

---

* पेनलॉप प्राचीन यूनानी बादशाह, ओडिसियस की पत्नी थी। ट्राय युद्ध के दौरान उसके पति की अनुपस्थिति में, अनेक शोहदे (बदचलन इंसान) उससे विवाह का प्रस्ताव करने लगे। तत्कालीन प्रथानुसार, किसी अन्य विवाह से बचने के लिए, उसने एक उपाय सोचा। उसने उन्हें तब तक इंतज़ार करने को कहा जब तक वह ओडिसियस के पिता का मृत्यु–वस्त्र नहीं बुन लेती। वह दिन में जितना वस्त्र बुनती थी, रात होने पर उसे उधेड़ देती थी। इस प्रकार तीन वर्ष बीत गए और अंततः उसके पति ने आकर उसकी रक्षा की।

नगण्य प्रभाव पड़ता है, यदि वह अपने मूल प्रभुत्व में स्थापित रहे। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम अपनी आत्म–स्वरूप में कैसे स्थित हों। यही अंततः हमें सीखना है, यदि हम कर्मों के इस अनंत जाल से निकलना चाहते हैं।

हममें से बहुतों के साथ यही कठिनाई है कि हम अपने कर्मों की ओर ध्यान नहीं देते। हम हर समय, बिना विचार किए कर्मों का बोझ इकट्ठा करते रहते हैं। इस सत्य को हम कभी अनुभव नहीं करते कि हममें एक ऐसी शक्ति है, जो हर वक़्त यह हिसाब रखती है कि हम क्या सोचते, कहते या करते हैं। महान विचारक, थॉमस कार्लायल (Thomas Carlyle) कहता है :

> मूर्ख, तुम सोचते हो कि तुम्हारे कर्मों का हिसाब रखने वाला कोई नहीं, कि सब कुछ नष्ट या दफ़न कर दिया जाता है? नहीं, कुछ भी नष्ट नहीं होता, न ही हो सकता है। तुम्हारे द्वारा कहा गए बेकार से बेकार शब्द भी समय की धरती में बोया गया एक बीज है, जिसका फल अनंत काल तक मिलता रहता है।

ईसा पूर्व, यूनानी नाटक के जनक, एसिलस (Aeschylus) ने कहा था :

> गहरे आकाश में नीचे कहीं, अपने कठोर नियंत्रण से, मानव पर करती शासन मौत। चाहे कुछ छल अथवा बल से, है नहीं कोई जो भाग सके, बेरहम मौत के चंगुल से।
>
> - The 'Eumenides' से

अध्याय - 2

कर्मों की क़िस्में

संतों ने कर्मों को तीन हिस्सों में बाँटा है :

1. 'संचित' कर्म - वे कर्म, जो पिछले अनगिनत अज्ञात जन्मों से जमा हो रहे हैं।

2. 'प्रारब्ध कर्म'- या'नी भाग्य, नियति या तक़दीर। संचित कर्मों का एक छोटा–सा भाग, जो मनुष्य का वर्तमान जीवन निर्धारित करता है। कोई चाह कर भी या कोशिश करके भी इनसे बच नहीं सकता।

3. 'क्रियमान कर्म'- वे कर्म, जिन्हें मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में करने के लिए स्वतंत्र है और मनुष्य इनसे अपने भविष्य को सँवार या बिगाड़ सकता है।

संचित कर्म

संचित कर्म धरती पर मनुष्य के प्रथम अवतरण से, उसके ख़ाते में जमा हो रहे अच्छे या बुरे कर्म हैं, जो उसने विभिन्न पुराने जन्मों में जमा किए हैं। मनुष्य इन कर्मों के बारे में अर्थात इनकी मात्रा या अंतःशक्ति के विषय में पूर्णतया अनजान रहता है। कौरवों के अंधे पिता, धृतराष्ट्र को जब श्रीकृष्ण ने अपनी योग शक्ति दी, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका अंधापन सौ से भी अधिक जन्म पहले किए गए किसी कर्म का फल है। बाइबिल में मूसा ने दस आज्ञाएँ सुनाते समय प्रभु को ऐसा कहते हुए बताया है :

> मैं ईर्ष्यालू परमात्मा हूँ और पूर्वजों के पापों को उनके बाद की तीन और चार पीढ़ियों तक पहुँचा देता हूँ।
>
> – पवित्र बाइबिल (निर्गमन 20:5)

अब तो चिकित्सा शास्त्र भी आनुवंशिकता (heredity) के महत्त्व को मानता है, क्योंकि कुछ रोग वंशानुगत होते हैं और पीढ़ियों तक चलते रहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान भी कुछ लोगों के असामान्य व्यवहार को उनके माता–पिता व पूर्वजों की मानसिक विशिष्टता से जोड़ता है।

प्रारब्ध कर्म

संचित कर्मों का एक अंश, जो मनुष्य के भाग्य या तक़दीर का निर्माण करता है और उसके वर्तमान जीवन को निर्धारित करता है, प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। इस पर मनुष्य का कोई वश नहीं है। अच्छा या बुरा, जो कुछ भाग्य में लिखा है, उसे हँसकर या रोकर, भोगना ही पड़ता है। हमारा वर्तमान जीवन पूर्वनिर्धारित कर्मों का, जिनका भार लेकर जीव इस संसार में आता है, मात्र खुलना या प्रकट होना है। पर यदि हम किसी पूर्ण पुरुष के मार्गदर्शन में अपनी आत्मा को विकसित और मज़बूत बना लेते हैं, तो इन कर्मों की चुभन या कड़वेपन से काफ़ी हद तक बच सकते हैं– ठीक उसी प्रकार जैसे पके बादाम या अखरोट की गिरी स्वयं को बाहरी छिलके से अलग कर लेती है, जिससे छिलका सिकुड़कर सख़्त हो जाता है और हमेशा एक ढाल की तरह गिरी की रक्षा करता है।

हममें से प्रत्येक, इच्छा या अनिच्छा से, जानबूझ कर अथवा अनजाने में, अपने लिए ज़ंजीरें बना रहा है– इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि वे ज़ंजीरें सोने की हैं या लोहे की। बेड़ी तो बेड़ी है, जिसका बाँधने का गुण एक सा है– किसी व्यक्ति को सदा अपनी जकड़ में रखना। जीव उस अभागे रेशम के कीड़े की तरह है, जो अपने ही बुने हुए कोष में बंद हो जाता है। अपने ही जाल में फँसी एक मकड़ी या अपने ही घोंसले में क़ैद एक पक्षी की तरह, जीव अपनी ही बनाई हुई लोहे की बेड़ियों में जकड़ा रहता है, जिनसे छूटने का कोई उपाय नहीं। इस प्रकार जन्म, मृत्यु और पुनः जन्म का यह चक्र, अनंत काल से अनवरत चल रहा है।

जब मनुष्य इस शरीर से ऊपर उठकर निहकर्मी बनता है, तब वह सतत् घूम रहे जीवन–चक्र में एक स्थिर बिन्दु की तरह, कर्म करते हुए भी कर्म रहित रहता है। तभी इस विशाल कर्म–चक्र की गति में ठहराव आता है क्योंकि उस अवस्था में जीव उस करन–कारण प्रभुसत्ता का जागृत सह–कार्यकर्ता ('Conscious co-worker of the Divine Plan') बन जाता है। तपस्वियों में राजकुमार, महात्मा बुद्ध ने बहुत ज़ोर देकर यह कहा है, "कामना–विहीन बनो।" इच्छाएँ ही मनुष्य के दुखों का मूल कारण हैं। अवचेतन मन की सूक्ष्म तरंगों से

लेकर, चेतन मन के सोच–विचार तक, हमारे सभी कर्मों की शुरूआत इच्छा से ही होती है। इस प्रकार, धीरे–धीरे रंग–बिरंगे कर्मों की एक विशाल फ़सल तैयार हो जाती है, जो मन के भटकाव से और भी लहलहा उठती है। हमारी आत्मा, शरीर रूपी रथ पर सवार है, इसका सारथी मन है (जो बेचारा पहले ही डगडगा रहा है)। मन ने बुद्धि रूपी लगाम को ढ़ीला छोड़ रखा है। इस रथ को इंद्रियाँ रूपी पाँच शक्तिशाली घोड़े, विषय–भोगों के मैदान में अंधाधुंध भगाए ले जा रहे हैं। इसलिए आत्मानुशासन बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसके लिए निहायत ज़रूरी है, मन–वचन–कर्म से पवित्रता, जो कि आत्म–ज्ञान और प्रभु–साक्षात्कार के मार्ग में बहुत मददगार है। रूहानियत का पहला क़दम नेक–पाक–सदाचारी जीवन से प्रारम्भ होता है।

क्रियमान कर्म

वर्तमान जीवन में अपनी इच्छा से किए गए कर्मों का यह चालू ख़ाता है। क्रियमान कर्म पहले दोनों प्रकार के कर्मों से एकदम अलग हैं। अटल भाग्य या प्रारब्ध की सीमा होने के बावजूद, प्रत्येक को अपनी इच्छानुसार कर्म करने की और जैसे मर्ज़ी बीज बोने की स्वतंत्रता है। सभी प्राणियों में से केवल मनुष्य को विवेक की शक्ति दी गई है, जिसकी मदद से वह स्वयं, अच्छे या बुरे का निर्णय कर सकता है। यह सब होते हुए भी यदि वह काँटे बोकर फूलों की उम्मीद करता है, तो उसकी यह आशा व्यर्थ है। अपने भविष्य को बनाना या बिगाड़ना उसके अपने वश में है।

कोई अनुभवी महापुरुष ही, मनुष्य के समक्ष जीवन का आदर्श रखकर, उसे सही रास्ता दिखा सकता है— जीवन का वह आदर्श, जो शरीर और उसके साज़ो–सामान से, इस विषय–प्रधान जीवन से बहुत ऊँचा है। पूर्ण पुरुष की शरण ग्रहण करने से संसार और इसके पदार्थों का मोह धीरे–धीरे कम होने लगता है। जब एक बार माया का यह जादू समाप्त हो जाता है, तो सब पर्दे हट जाते हैं, वास्तविक सत्य एकाएक प्रकट हो जाता है और जीव को सही–सलामत बच निकलने का मौक़ा मिल जाता है।

सामान्यतः कुछ क्रियमान कर्मों का फल इसी जन्म में मिल जाता है, जबकि फलीभूत न होने वाले शेष कर्म, जन्म–जन्मांतर से चल रहे हमारे संचित कर्मों के ख़ाते में जुड़ जाते हैं। इसलिए प्रत्येक को चाहिए कि वह दूरदर्शिता से काम ले और कुछ भी कार्य करने से पूर्व उसके परिणाम को अच्छी तरह तोल ले क्योंकि विवेक शून्य होकर, अंधेरे में सिर के बल छलांग लगाने के बाद फिर पीछे लौटना

कदापि संभव नहीं। कितना भी पछताया जाए या अपने ग्रहों को दोष दिया जाए, पर किए हुए को मिटाया नहीं जा सकता। एक रेलवे इंजीनियर को पटरी बिछाने से पूर्व अच्छी तरह सोच–विचार कर लेना चाहिए क्योंकि पटरी बिछ जाने पर तो रेल को उस पर सरपट दौड़ना है। पटरी बिछाने में कोई छोटी–सी भूल, कोई ढीली फ़िश–प्लेट या कोई ग़लत कोण, किसी विनाशकारी दुर्घटना का कारण बन सकती है। सब कार्य सही ढंग से हो जाने पर भी, दिन–रात कड़ी निगरानी की ज़रूरत है— कहीं कोई जोड़ न हिला हो अथवा दुश्मन ने कुछ तोड़–फोड़ न की हो। प्रकृति के नियम के अनुसार, मनुष्य (जो देहधारी आत्मा है) एक बहुमूल्य हीरे के समान है, जो तीन संदूकों या शरीरों में लिपटा है— स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर।

> स्वार्गिक देह हैं और पार्थिव देह भी हैं। परन्तु स्वार्गिक देहों का तेज और है, और पार्थिव का और।
>
> – पवित्र बाइबिल (I कुरिन्थियों 15:40)

ये तीनों शरीर ऐसे हैं, जैसे कोट, उसके नीचे जैकेट और फिर कमीज़। स्थूल शरीर त्याग देने पर भी, आत्मा सूक्ष्म शरीर धारण किए रहती है। सूक्ष्म शरीर के नीचे एक महीन आवरण की तरह, कारण या ब्रह्मंडी शरीर विद्यमान रहता है। स्थूल शरीर को छोड़े बिना जीवात्मा का प्रथम स्वर्ग या सूक्ष्म देश में प्रवेश करना असंभव है।

> होगा न प्राप्त साम्राज्य प्रभु का, इस रक्त-माँस के पिंजर से, न ही मलिन पवित्र को पा सकता।
>
> मलिनता जब ओढ़ेगी पवित्रता, और अनित्य, नित्य को, तभी होगा चरितार्थ यह वाक्य, 'निगल मृत्यु को, हुई विजय'।
>
> हे मृत्यु तेरी जीत कहाँ रही? हे मृत्यु तेरा डंक कहाँ रहा?
>
> – पवित्र बाइबिल (I कुरिन्थियों 15:50,53-55)

यह बदलाव अथवा शरीर का त्याग या तो अंतिम विसर्जन— विघटन प्रक्रिया या 'नी मौत द्वारा संभव है या अंतर्मुख होने व विश्लेषण द्वारा स्वेच्छा से सुरत की धारा को समेट लेने पर, जिसे तकनीकी भाषा में देहाभास से ऊपर आना कहा जाता है। बाइबिल के सुसमाचारों में सुरत को इकट्ठा करने की इस विधि को 'पुनर्जन्म' या 'पुनर्जीवन (resurrection)' कहा गया है, जबकि हिन्दू धर्मग्रंथों ने इसे 'द्विजन्मा'

होने की अवस्था बताया है। अविनाशी बीज से आत्मा का जन्म लेना, शरीर के जन्म, जो एक नाशवान बीज से पैदा होता है, से सर्वथा भिन्न है। मुस्लिम दरवेशों ने इस जीते–जी मरने की प्रक्रिया को 'मौत से पहले मौत' (मूतू–क़िबलान तू मौतू) कहा है। किसी समर्थ गुरु की कृपा से, हम न केवल इस शरीर से बल्कि दूसरे शरीरों (सूक्ष्म व कारण) से भी ऊपर उठना सीख सकते हैं। जो स्वयं ऊपरी मंडलों में गया है, वही ऐसा करने में दूसरों की मदद कर सकता है। इसलिए संसार में यदि कोई, निरंतर घूमने वाले जीवन–चक्र से बचना चाहता है, तो उसे 'आत्मा के लिए शरीर' को छोड़ देना चाहिए।

आम तौर पर, शारीरिक मृत्यु के बाद जीवात्मा के पास कोई विकल्प नहीं होता, कुछ समय बाद किसी जीव का शरीर धारण करके, वापिस इस भौतिक शरीर में आने के सिवाय। जीवात्मा किस योनि में वापिस आएगी, वह निर्भर करता है उसके संपूर्ण जीवन की प्रवृत्तियों और अभिरुचियों पर, इच्छाओं की प्रबलता पर और मौत के समय मन–मस्तिष्क पर छाई रहने वाली दबी हुई इच्छाओं पर और उनके द्वारा ही उसका भविष्य का पथ तय होता है।

पिता क्रिपालि आगिआ इह दीनी बारिकु मुखि मांगै सो देना।।

– आदि ग्रंथ (मलार म॰5, पृ॰1266)

परन्तु यदि कोई किसी संत–सत्गुरु से आत्म–विश्लेषण अर्थात स्वेच्छा से भौतिक शरीर से ऊपर उठने की विधि का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर लेता है, तो वह उस अनुभव के आधार पर नियमित रूप से अभ्यास करके जीते–जी मरना सीख सकता है। परिणामस्वरूप, उसकी आँखों से जन्म–जन्मांतर के भ्रम के पर्दे हट जाते हैं और संसार व इसके पदार्थों का मायावी आकर्षण समाप्त हो जाता है। सांसारिक पदार्थों के वास्तविक महत्त्व को जान लेने पर, वह इच्छा रहित या मुक्त हो जाता है। तब वह स्वयं का स्वामी या जीवन मुक्त बन कर, संसार में अपना बाक़ी जीवन मोहरहित होकर जीता है। यही है आत्मा का नया या दूसरा जन्म अर्थात अमर जीवन। लेकिन इस अवस्था को कैसे पाया जाए? ईशु मसीह ने कहा है :

और जो अपना क्रूस उठाकर मेरे पीछे नहीं आता, वह मेरे योग्य नहीं। जो अपने प्राण बचाता है, वह उसे खोएगा; और जो मेरे कारण अपना प्राण खोता है, वह उसे पाएगा।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 10:38-39)

लूका द्वारा रचित सुसमाचार में हम पाते हैं :

> ईशु ने उन सबसे कहा, "यदि कोई मेरे पीछे आना चाहे तो अपने आप से इंकार करे और रोज़ाना अपना क्रूस उठाकर मेरे पीछे हो ले।"
>
> – पवित्र बाइबिल (लूका 9:23)

> जो कोई अपना क्रूस न उठाए और मेरे पीछे न आए, वह कभी मेरा शिष्य नहीं हो सकता।
>
> – पवित्र बाइबिल (लूका 14:27)

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईशु में मरना, सदा के लिए ईशु के साथ जीना है। "जीते–जी मरना सीखो, ताकि तुम हमेशा की ज़िंदगी को पा सको," यही सब महापुरुषों की शिक्षा का सार है। मुसलमानों में इसे 'फ़नाफ़िश्शैख़' होना अर्थात गुरु या मुर्शिद में समा जाना कहा जाता है। इसलिए यह बात सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि पहले किसी ऐसे जीवित गुरु की तलाश की जाए, जो कर्मों के इस अंतहीन चक्र से हमें हमेशा के लिए निकाल सके। उसके चरण–कमलों में रहकर हम स्वयं को कर्मों के दुष्प्रभाव से बचा सकते हैं, जो अत्यन्त प्रचंडता से भूत की तरह हमारा पीछा कर रहे हैं। जगत–गुरु की समर्था के विषय में यह कहा गया है :

> तव गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै।।
> सिंघ सरन कत जाईऔ जउ जंबुकु ग्रासै।।
>
> – आदि ग्रंथ (बिलावल सदना, पृ॰858)

फिर धर्मग्रंथों में यह आता है :

> अफरिओ जमु मारिआ न जाई।। गुर कै सबदे नेड़ि न आई।।
> सबदु सुणे ता दूरहु भागै मतु मारे हरि जीउ वेपरवाहा है।।
>
> – आदि ग्रंथ (मारू सोलहे म॰3, पृ॰1054)

अब एक उदाहरण द्वारा हम अच्छी तरह समझ सकते है कि कर्मों का क़ानून किस प्रकार कार्य करता है।

दो क़िस्म के अंगूर के बीज लो– पीले और भूरे। पीले बीज शुभ कर्मों को इंगित करते हैं और भूरे अशुभ कर्मों को। एक कोठरी में दोनों तरह के बीजों के ढ़ेर लगे हैं। यह मनुष्य के संचित कर्मों का भंडार है। अब "क" नाम का एक मनुष्य

(शरीर+मन+आत्मा) है, जिसकी अपने जीवन में राजा बनने की तीव्र लालसा है। वह बीमार हो पड़ता है और राजा बनने की अपूर्ण इच्छा हमेशा उसके मन पर छाई रहती है। कुछ समय उपरांत प्रकृति उसे शरीर छोड़ने को बाध्य कर देती है। लेकिन प्राकृतिक नियम के अनुसार, मृत्यु के बाद वह अपने सूक्ष्म और कारण शरीरों में लिपटा हुआ है। अब उसकी आत्मा स्थूल शरीर के बिना, अन्य शरीरों– चित्त एवं सूक्ष्म व कारण के माध्यम से कार्य करती है। चूँकि मन सभी प्रभावों का भंडार है, 'क' अब भी राजा बनने की इच्छा संजोये हुए है। लेकिन अब 'क' को स्थूल शरीर के अभाव में बहुत कठिनाई महसूस होती है, क्योंकि धरती पर भौतिक शरीर धारण करने पर ही किसी अवस्था में उसकी राजा बनने की इच्छा पूर्ण हो सकती है। तब वह अपने चित्त की शक्ति के प्रभाव में आकर, कुछ ऐसे अफलित (संचित) कर्मों को चुन लेता है, जिनसे उसकी चिर–संचित कामना को पूर्ण करने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बन सकें।

संसार को चलाने वाली सत्ता, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, के दो पक्ष हैं– सकारात्मक और पकारात्मक। पहली निज–धाम वापस जाने में हमारी मदद करती है, जबकि दूसरा इस भू–लोक पर जीवन को चलाती और नियंत्रित करती है। इस संसार को चलाने का संपूर्ण उत्तरदायित्व प्रकृति अर्थात काल या नकारात्मक पक्ष पर है, जिसका मुख्य कार्य संसार को पूरी तरह जीवों से आबाद रखकर चलाते रहना है। इसके लिए प्रकृति अत्यन्त निपुणता से प्रत्येक जीव के प्रारब्ध या भाग्य को बनाती है, जिसके अनुसार वह यहाँ आकर अपनी जीवन शैली अपनाता है।

इस प्रकार जीव एक बंद पिंजरे में क़ैद है और जो कुछ उसे बंद हालत में मिलता है, उसे खोल पाने के लिए वह विवश है। यह एक तरह से बीज में चित्त में निष्क्रिय रूप से पड़े पिछले अप्रकटित कर्मों का प्रकट होना है, जो अनेक रूपों और रंगों में जीवन के पर्दे पर छा जाते हैं। जीवन पुरातन और शाश्वत ज्योति से उत्पन्न होता है, परन्तु हम इस संसार में, जो कि 'काँच के एक रंग–बिरंगे गुंबद' में घिरा है और जो हमें समय के बीतने के साथ–साथ घेरता जाता है, आकर, उस जीवनदायिनी ज्योति को अक्सर भूल जाते हैं। उस समय माँ प्रकृति अपने अबोध बच्चे की संभाल करती है और अपनी नियामतें भरपूर लुटाती है, इतनी ज़्यादा कि अनजाने में जीव उन सब पदार्थों का पूरा आनंद उठाता है,

जिनके लिए वह कभी लालायित रहता था। उपहारों की चकाचौंध में वह दाता को, अपने परम पिता को भी भूल जाता है और बुरी तरह मौत के फंदे में फँस जाता है।

पूर्वनिश्चित खेल की तरह, 'क' के जीवन का यह केवल एक भाग है। परन्तु इसके अतिरिक्त, एक अन्य पक्ष, प्रत्येक को प्राप्त कर्म की स्वतंत्रता या संकल्प शक्ति पर निर्भर करता है। जीवन के उच्च आदर्श को समझ कर, यदि प्राप्त अवसरों से पूरा लाभ उठाया जाए, तो इसी जीवन में मुक्ति संभव है। यह बड़ी अजीब बात है कि मनुष्य न केवल भाग्य के हाथ का खिलौना है, बल्कि अपने भविष्य का निर्माता भी है। जो हम अपने साथ लाए हैं, वह अवश्य सामने आएगा और जो कुछ हम अब करते हैं, उससे हमारे भविष्य का स्वरूप तय होगा। इसलिए बुद्धिमानी सही चुनाव करने में ही है। मन का अपना अलग अस्तित्व है और यदि इसे वश में रखा जाए, तो यह आज्ञाकारी सेवक की तरह ढंग से पेश आता है, लेकिन यदि इसे आत्मा पर क़ाबू पाने दिया जाए, तो यह उस ख़तरनाक अमरबेल की तरह है, जो उसी पेड़ को सुखा देती है, जिस पर वह फलती–फूलती है और जिस पर उसका जीवन व अस्तित्व निर्भर होता है। इसलिए जीवन–रूपी मंच पर, अपनी पूर्व–निर्धारित भूमिका अदा करते हुए, हमें अपना संपूर्ण ध्यान सही बीज बोने और उनका पोषण करने पर लगाना चाहिए— उस दिव्य ज्योति के प्रकाश में, जिसे चाहे हम जानें अथवा न जानें, पर जो सब में बराबर चमकती है। प्रभु का हुक्म पहले से ही हमारे जीवन में रचा–बुना है, क्योंकि उसके बिना अस्तित्व संभव नहीं है। उस हुक्म को जानकर, उसके अनुसार कार्य करके ही हम जीवन–चक्र से बाहर निकल सकते हैं। जप जी साहिब में गुरु नानकदेव जी ने कहा है :

किव सचिआरा होईऐ किव कूड़ै तुटै पालि॥
हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि॥

– आदि ग्रंथ (जप जी 1, पृ॰1)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म और इच्छाएँ जन्म–मृत्यु के अविरल चक्र के लिए ज़िम्मेदार हैं। इस अंतहीन चक्र को कैसे समाप्त किया जाए? इसके केवल दो ही तरीक़े हैं, जिनसे इस असीम और विशाल कर्म–भंडार को समाप्त या ख़ाली किया जा सकता है। यह कर्म भंडार, हमारे और प्रभु के बीच पत्थर की

दुर्गम दीवार और विवेकहीन मन का सदा हमारी आँखों पर पड़ा मोटा पर्दा, जो हमें अंधा बना देता है, बन कर खड़ा है। इस जटिल और उलझनपूर्ण समस्या को हल करने के दो उपाय हैं :

1. यह प्रकृति पर छोड़ दिया जाए कि समय आने पर वह स्वयं इस कर्म भंडार को समाप्त कर दे, यदि किसी तरह यह संभव हो।

2. किसी संत–सत्गुरु से आत्म–विद्या सीखकर, लौकिक और अलौकिक मंडलों का अनुभवयुक्त ज्ञान प्राप्त करना और एक के बाद एक, आंतरिक मंडलों को पार करने के लिए अभी से अभ्यास करना।

पहला रास्ता न केवल बेहद लम्बा है, बल्कि बहुत कठिन भी है और ख़तरों एवं जोखिम से भरा है। यदि कोई भाग्यशाली ऐसा कर सके, तो भी इस रास्ते से मंज़िल पर पहुँचने में करोड़ों जन्म लग जायेंगे और फिर, प्रकृति भी किसी को कर्म के क़ानून से बचने में कुछ विशेष मदद नहीं करती, क्योंकि इससे तो उसका और उसकी माया का ही अंत हो जाएगा।

मनुष्य जन्म वास्तव में दुर्लभ अवसर है और यह सुअवसर, सृष्टि के लंबे विकास–क्रम में, भौतिक मंडल में अनगिनत योनियों से गुज़र कर ही प्राप्त होता है। एक बार यह सुनहरा मौक़ा चूक जाने पर, जीव को अपने जीवन की प्रबलतम इच्छाओं, विशेषकर वे, जो मौत के वक़्त ज़बरदस्त रूप से मन पर छाई रहती हैं, के अनुरूप शरीर धारण करके इस जीवन–चक्र में चलते रहना पड़ता है। "जहाँ आसा, तहाँ वासा," अर्थात जहाँ मन होगा, आत्मा अपने आप वहाँ जाएगी। ऐसी हालत में एक देहधारी आत्मा का, किसी सहायता व पथ–प्रदर्शन के बिना, स्थूल जगत से ऊपर उठना और मन को शांत व आत्मलीन रखना लगभग असंभव है, चाहे कोई कितना ही भगीरथ प्रयास क्यों न करे। कोई संत–सत्गुरु या प्रभुरूप हस्ती ही दया करके जीव को उसके निजघर या आध्यात्मिक देश वापस जाने में मदद कर सकती है, जहाँ से प्रत्येक को प्रभु के आदेश की अवहेलना करने पर निकाला गया था। इस मार्ग में पग–पग पर अनगिनत ख़तरे हैं। इसलिए कोई बुद्धिमान मनुष्य इस एकाकी और दुर्गम रास्ते पर, जो अक़्सर किसी बंद अंधेरी गुफा की ओर ले जाता है, अकेला चलने का साहस कभी नहीं करेगा।

दूसरा रास्ता अपनाकर व्यक्ति किसी ऐसे समर्थ महापुरुष की खोज करता है, जो यहाँ और ऊपरी मंडलों में, सभी नकारात्मक (काल की) शक्तियों का

मुक़ाबला कर सकता है। वह हमारी आत्मा के कर्मों के लेख को मिटा देने में समर्थ है। जीव को अपनी शरण में लेते ही, वह जन्मों–जन्मों से चल रहे कर्मों के अंतहीन ख़ाते को समाप्त करना शुरू कर देता है। वह मनुष्य की बेतहाशा दौड़ को लगाम दे देता है। "बस और नहीं," इतना कहकर वह उसे प्रभु–प्राप्ति के मार्ग पर लगा देता है। प्रायः वह मनुष्य के प्रारब्ध या भाग्य को नहीं छेड़ता, क्योंकि दिए गए जीवन को पूरा करने के लिए, जहाँ तक हो सके, इसे भोगना ज़रूरी है, पर संचित कर्मों के बेअंत भंडार को वह 'नाम' की चिंगारी से भस्म कर डालता है। संचित कर्मों का भंडार और बिना भोगे हुए क्रियमान कर्म, 'नाम' या 'शब्द' से जुड़कर, वैसे ही भस्म हो जाते हैं, जैसे आग की एक चिंगारी पूरे जंगल या लकड़ी के ढेर को जला डालती है। गुरु नानकदेव जी जपुजी की बीसवीं पौड़ी में हमें बताते हैं :

भरीऐ हथु पैरु तनु देह।। पाणी धोतै उतरसु खेह।।
मूत पलीती कपड़ु होइ।। दे साबूण लईऐ ओहु धोइ।।
भरीऐ मति पापा कै संगि।। ओहु धोपै नावै कै रंगि।।
पुंनी पापी आखणु नाहि।। करि करि करणा लिखि लै जाहु।।
आपे बीजि आपे ही खाहु।। नानक हुकमी आवहु जाहु।।

– आदि ग्रंथ (जप जी 20, पृ॰4)

अब यह स्पष्ट है कि मन ही वह चुंबक है, जो कि सभी कर्मों को और उनसे जुड़े सभी तत्त्वों को आकर्षित करता है। मन का मनुष्य पर ज़बरदस्त प्रभाव है। यह हमारी सुरत, जो कि आत्मा का बाहरी इज़हार है, को माध्यम बनाकर कार्य करता है— उस सुरत को, जो मनुष्य के सभी विरासत में मिले पक्षों में से सर्वश्रेष्ठ है, गुणों की खान है, एक अनमोल हीरा है।

संत–महात्मा एक महान उद्देश्य और मिशन के तहत इस संसार में आते हैं। उन्हें मालिक की तरफ़ से, रूहों को कर्म बंधन से मुक्त कराने का अधिकार या परवाना मिलता है। सौभाग्य से जब कोई ऐसे महात्मा की शरण में आकर पूर्ण समर्पण कर देता है, तो वे उस आत्मा की पूरी संभाल करते हैं। संत–महात्मा पहले कर्मों के मायावी जाल को तोड़ता है, जो कि जीव को अपने मृत्युपाश में जकड़े हुए हैं। वह सबको यही उपदेश देता है कि हमारा जीवन नेक–पाक और अनुशासित होना चाहिए, ताकि कर्मों के बुरे प्रभाव या कर्म के क़ानून से बचा जा सके। वह बताता है कि इंद्रियों सहित प्रकृति की सभी नियामतें गुज़ारे मात्र

बरतने के लिए दी गई हैं, उनमें लिप्त होने या भोग द्वारा उनका आनंद लेने के लिए नहीं। हमारी सभी समस्याएँ तभी शुरू होती हैं, जब हम अंधा–धुंध विषयों में डूब जाते हैं और बजाय इसके कि हम सुखों को भोगें, सुख हमें भोग लेते हैं और शारीरिक व मानसिक रूप से हमें पूरी तरह निचोड़ देते हैं।

हम यह भूल जाते हैं कि सच्चा सुख मन की एक अवस्था है, जो हमारे अन्तर से फूटता है, जब हम चैतन्य होकर सोये हुए 'शब्द' को जागृत कर लेते हैं और अपनी आत्मा को उस जीवन शक्ति की खुराक देते हैं, जो दृश्य और अदृश्य सभी चीज़ों में मौजूद है और जो समस्त सृष्टि को बनाने और चलाने वाली एकमात्र शक्ति है। भूत, भविष्य और वर्तमान– ये तीनों पूर्ण पुरुष की सशक्त पकड़ में रहते हैं। पूर्ण पुरुष एक दयालु पिता की भाँति अपने बच्चों को नेकी और अच्छाई की राह दिखाता है, जिस पर चलकर वे आत्म–ज्ञान और प्रभु–साक्षात्कार या खुदशनासी और खुदाशनासी के लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं और प्रभु से एकरूप हो जाते हैं। जिस प्रकार एक अबोध बालक नहीं जान सकता कि उसका पिता उसके लिए कितना कुछ करता है, उसी प्रकार एक नया शिष्य इस तथ्य से अनभिज्ञ होता है कि उसका आध्यात्मिक पिता उसकी कितनी संभाल करता है। गुरु के बताये हुए रास्ते पर चलकर वह धीरे–धीरे अन्तर के रहस्यों को समझ लेता है, जो कि क़दम–क़दम पर उसके सामने खुलते जाते हैं :

> शरीर में रहकर, निरीह आत्मा। क्या जानती हो तुम?
> तुम हो सीमित और तुच्छ बहुत, स्वयं को जानने के लिए भी तुम।
>
> — जॉन डॉन [John Donne- 'Of the Progress of the Soul']

अध्याय - 3

संत की कृपा

कर्मों की विकट और जटिल समस्या को एक संत–सत्गुरु जिस ढंग से हल करता है, वह संक्षेप में इस प्रकार है :

संचित अथवा बीज कर्म

यह अनंत काल से, जब से सृष्टि की शुरूआत हुई, जीव के खाते में इकट्ठे हो रहे, अव्यक्त और सुप्त कर्मों का भंडार है। कोई भी इनसे बच नहीं सकता, जब तक कि वे बाद के अनगिनत जन्मों में उनका हिसाब–किताब नहीं हो जाता (बशर्ते कि उनमें और वृद्धि न हो, जो एक असंभव सी बात है)। इसलिए इस विशालकाय जमा ख़ाते को समाप्त कर पाना नामुमकिन है। तो क्या चेतन (conscious) और अवचेतन (sub-conscious) के बीच की दरार और फिर अवचेतन और अचेतन (un-conscious) को पृथक करने वाली खाई को पार करने का कोई उपाय नहीं है? हरेक समस्या का इलाज है, चाहे वह आत्मिक समस्या हो या सांसारिक। यदि बीजों को भून दिया जाए, तो वे अपनी उर्वरता या अकुंरित होने की क्षमता खो देते हैं और उनकी उगने और फल देने की शक्ति समाप्त हो जाती है। ठीक उसी प्रकार, संचित कर्मों को भी 'नाम' की अग्नि से जलाकर या दाग़कर निष्क्रिय बनाया जा सकता है और तब जीव अपने अज्ञात भूतकाल से नाता तोड़कर, 'परम–सत्ता का जागृत सहकार्यकर्ता' ('Conscious co-worker of the Divine Plan') बन जाता है।

प्रारब्ध कर्म

इन्हें मनुष्य का वर्तमान जीवन, उसका भाग्य या जमा पूंजी कहा जा सकता है। इनका फल चाहे कितना ही मीठा हो या कड़वा, हर हालत में भुगतना पड़ता है, क्योंकि जो कुछ बोया गया है, उसे काटने से कोई बच नहीं सकता। इसलिए गुरु इनमें कोई दख़ल न देकर, यह शिष्य पर छोड़ देता है कि वह प्यार और सब्र से

इन कर्मों को सहन करते हुए, इन्हें इसी जन्म में समाप्त कर ले। यदि इन कर्मों को मिटाया जाए या इनसे किसी प्रकार की छेड़खानी की जाए, तो हमारा शरीर ही समाप्त हो जाएगा। परन्तु इन कर्मों को सहन करने के लिए शिष्य अकेला नहीं होता। दीक्षा ग्रहण करने के उपरांत, गुरु सत्ता शिष्य की हर वक़्त पूरी संभाल करती है और उसे हर क़दम पर पूरी मदद मिलती है। आत्मानुशासन द्वारा, धीरे–धीरे वह स्वयं को जानने की और रूह को समेटने की प्रक्रिया सीख लेता है, जिससे उसकी आत्मा बलवान बन जाती है। परिणामस्वरूप, ये पीड़ादायक कर्म ठंडी हवा के झोंके की तरह गुज़र जाते हैं और मनुष्य सही–सलामत बच जाता है। कठिन और असाध्य मामलों में भी गुरु–सत्ता अपने 'दयामेहर के क़ानून' द्वारा मदद पहुँचाती है। समर्पित शिष्य की सभी समस्यायें काफ़ी हद तक समाप्त या आसान कर दी जाती हैं। कभी–कभी शारीरिक और मानसिक तकलीफ़ों की अवधि कम करने के लिए उनकी तीव्रता कुछ बढ़ा दी जाती है या तीव्रता कम करके, अवधि को लम्बा कर दिया जाता है– जैसा भी शिष्य के लिए उचित हो। लेकिन यही सब कुछ नहीं है।

शरीर के दुख या रोग, विषय–भोगों का परिणाम हैं। शारीरिक तकलीफ़ें तो देह को ही सहन करनी पड़ेंगी। शब्द–स्वरूप गुरु या सदेह प्रभु अपने शिष्य, वह कहीं भी हो– दूर या निकट, के बारे में सब कुछ जानता है। यहाँ तक कि अपनी दयामेहर से वह अपने समर्पित शिष्यों के कर्मों का कुछ बोझ स्वयं वहन करता है, क्योंकि प्रकृति के नियम की किसी न किसी रूप में क्षतिपूर्ति करनी ही पड़ती है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है, वह भी जब सत्गुरु उसे ठीक समझे। साथ ही, यह बात भी है कि कोई भी शिष्य यह नहीं चाहेगा कि उसकी ग़लतियों का फल उसके गुरु को भुगतना पड़े। इसके विपरीत शिष्य को चाहिए कि वह भाव–भक्ति से गुरु की आराधना करनी सीखे। यदि वह ऐसा करता है, तो निःसंदेह उसे दुखों से छुड़ाने या उन्हें हल्का करने के लिए हर संभव सहायता उस तक पहुँचती है। उसकी आत्मा भी जीवन की खुराक़ पाकर और जीवन का अमृत पीकर मज़बूत हो जाती है।

लेकिन कुछ चीज़ें ऐसी हैं, जहाँ इंसान का कोई ख़ास वश नहीं चलता, जैसे :

1. जीवन के सुख–दुख, शारीरिक व मानसिक आराम या तकलीफ़ें।

2. अमीरी–ग़रीबी, धन–ऐश्वर्य, सत्ता, दरिद्रता और संपन्नता।

3. मान–सम्मान, यश–अपयश, उपेक्षा एवं तिरस्कार।

ये सब आम जीवन के साथ जुड़े हैं और पहले से निश्चित हैं। मनुष्य के सभी प्रयत्न अधिकाधिक सुख–सुविधाएँ जुटाने या दुखों से बचने के लिए होते हैं। वह यह नहीं समझ पाता कि जीवन बादलों की तरह क्षणभंगुर है, छाया मात्र है– एक छलावा या मृग–मरीचिका है, जो तपते हुए मरुस्थल में भटकते पथिक को हमेशा भरमाती या छलती रहती है। किसी संत–सत्गुरु के सत्संग और भजन–अभ्यास द्वारा जीव को संसार और इसके पदार्थों का मायावी स्वरूप समझ में आ जाता है और उसमें अनंत जीवन का स्त्रोत फूट पड़ता है, जिसे पाकर उसका रोम–रोम तृप्त हो जाता है और उसे हमेशा के लिए संतोष मिल जाता है। ज़िंदगी तब उसके लिए एक मधुर गीत बन जाती है।

क्रियमान कर्म

ये वे कर्म हैं, जिन्हें इस धरा पर अपने वर्तमान जीवन में हम प्रतिदिन करते हैं। इन कर्मों से बचने के लिए हर शिष्य को यह हिदायत दी जाती है कि वह अपने जीवन को मन–वचन–कर्म से नेक–पाक–पवित्र बनाये और हर तरह की बुराई से बचे। इसकी अवहेलना करने से उस पर मुसीबतों का आना निश्चित है, क्योंकि पाप का दंड है, मृत्यु अर्थात जीवन के आधार या उसकी जड़ों की ही मृत्यु।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि विशेष या विरले मामलों में जब संत–सत्गुरु किसी जीव के कर्मों का बोझ अपने ऊपर लेता है, तब कर्मों के अमिट प्रभाव से वह शिष्यों को कैसे बचाता है। शरीर से जुड़े कर्म, जैसा कि ऊपर कहा गया है, शरीर पर ही झेलने होंगे।

> शरीर में रहकर, निरीह आत्मा। क्या जानती हो तुम?
> तुम हो सीमित और तुच्छ बहुत, स्वयं को जानने के लिए भी तुम।

— जॉन डॉन [John Donne- 'Of the Progress of the Soul']

इतिहास में, पहले मुग़ल बादशाह, बाबर के जीवन की एक घटना का उल्लेख मिलता है। एक बार उसका पुत्र हुमायूँ सख़्त बीमार पड़ गया। उसके बचने की कोई आशा न थी। बादशाह ने करुणा से भरकर प्रभु से मूक प्रार्थना की कि उसके पुत्र का रोग उसे लग जाए। यह कुछ अजीब लगता है, लेकिन उसी क्षण से प्रार्थना का प्रभाव शुरू हो गया। शहज़ादा धीरे–धीरे स्वस्थ होने लगा, जबकि बादशाह रोगग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त

हुआ। दूसरों का दुख उठाने की अनेक घटनाओं में से यह मात्र एक उदाहरण है।

गुरु एक बादशाह है, जो दया और करुणा का सागर है। उसके अनंत साम्राज्य में कर्मों का कोई हिसाब नहीं किया जाता। प्रभु से एकमेक होने के कारण, वह प्रत्येक को उसके अन्तर में प्रवाहित जीवनधारा, जो मुसीबत के समय एक लंगर या सहारे का काम करती है, से जोड़ देता है। हमारी क़िश्ती, जीवन के तूफ़ानी थपेड़ों में फँसकर डाँवाँडोल हो सकती है, परन्तु तैरते बोया (floating buoy) से बँधी होने के कारण, वह तूफ़ानी हवाओं और ऊँची–नीची लहरों में घिरकर भी बच जाती है।

मनुष्य की आँखों पर (माया की) पट्टी बाँधकर उसे संसार रूपी मंच पर ज़बरदस्ती भेज दिया जाता है, जहाँ आकर उसे अपनी प्रारब्ध भोगनी पड़ती है, जिसके बारे में वह पूर्णतया अनजान है। उसे तो इस भौतिक जगत के विषय में भी पूरा ज्ञान नहीं है, ऊपरी मंडलों की तो बात ही क्या! अपने काम–धंधों में व्यस्त रहकर, वह प्रभु–भक्ति का दिखावा करता है। अन्तर के रूहानी ख़ज़ाने, प्रभु की 'ज्योति' व 'श्रुति' से उसका कोई संपर्क नहीं होता। अपने वास्तविक स्वरूप को न जानकर, वह अपना सारा समय विषय–भोगों में व्यतीत कर देता है। वह अपने जीवन को केवल एक आकस्मिक संयोग का परिणाम मानता है और जीवन–मंच पर एक कठपुतली की तरह, वह भाग्य के आसरे जीवित रहता है।

दूसरी ओर कोई संत, एक मिशन या लक्ष्य को लेकर यहाँ आता है। वह प्रभु द्वारा चुना हुआ मसीहा या देवदूत होता है। वह उसके नाम पर, उसके 'शब्द' की ताक़त से कार्य करता है। प्रभु–इच्छा के अतिरिक्त उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती। प्रभु की सृष्टि में, उसका जागृत सह–कार्यकर्ता बनकर, वह जीवन के हर पक्ष में प्रभु का अदृश्य हाथ देखता है। काल के दायरे में रहकर भी, वास्तव में वह कालातीत होता है। जन्म और मृत्यु दोनों का स्वामी होने पर भी, उसके दिल में पीड़ित मानवता के लिए असीम दया और प्रेम होता है। उसका कार्य, मिलन के लिए तड़पती रूहों को परमात्मा से मिलाना है।

संतों का कार्यक्षेत्र, अवतारों से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र होता है। अवतार केवल मानवीय स्तर पर कार्य करते हैं, ताकि इस संसार का कार्य सुचारू और व्यवस्थित ढंग से चल सके। भगवान श्री कृष्ण ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जब–जब धर्म की हानि होती है, उन्हें इस संसार में आना पड़ता है, ताकि बिगड़े

हुए संतुलन को ठीक करके, भक्तों का उद्धार और दुष्टों का संहार किया जा सके। इसी प्रकार, रामचरितमानस में भगवान राम के बारे में ज़िक्र है कि संसार में पाप बहुत बढ़ जाने पर, उन्होंने पृथ्वी पर अवतार लिया। अवतार केवल अच्छाई और धर्म की पुनर्स्थापना के लिए आते हैं। लेकिन संसार–रूपी जेल के द्वार खोलकर जीवों को उच्च आध्यात्मिक मंडलों में ले जाने में वे असमर्थ हैं। यह कार्य पूर्णतया संतों के लिए है, जो कि चेतन होकर प्रभुसत्ता की दिव्य परियोजना को कार्यान्वित करते हैं और उसी की भक्ति का उपदेश देते हैं, क्योंकि इसी तरीक़े से कर्मों के प्रभाव को समाप्त किया जा सकता है। एक मुस्लिम सूफ़ी ने कहा है :

तुरा बरोज़े-हिसाब ईं अमर शवद मअलूम,
किह् हबुवद सल्तनते-बे-हिसाब दरवेशी।

— ख़्वाजा हाफ़िज़

(अर्थात अंत समय जब कर्मों के हिसाब का समय आया, तो यह मालूम हुआ कि दरवेशों की सल्तनत में कर्मों का हिसाब नहीं होता।)

फिर, यह कहा गया है :

सिंघ सरन कत जाईऐ जउ जंबुकु ग्रासै।।

— आदि ग्रंथ (बिलावल सदना, पृ॰858)

कर्मों के फल से कोई नहीं बच सकता, यहाँ तक कि भूत, प्रेत, दैत्य, राक्षस, गंधर्व, किन्नर, यक्ष या देवता भी नहीं। ये जीव प्रकाशमान, सूक्ष्म और वायवीय शरीर धारण किए हुए हैं और इन्हें ब्रह्मंड में (जो कि अंड और पिंड से ऊपर तीसरा मंडल है) रहकर अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। कर्मों के चक्र से छूटने के लिए वे भी मनुष्य देह में आने की अभिलाषा व इंतज़ार करते हैं, क्योंकि मनुष्य जन्म में ही किसी प्रभुरूप हस्ती से मिलने की संभावना है, जो उन्हें रूहानी रास्ते का रहस्य अर्थात 'नाम' या 'शब्द' का भेद बता सकता है।

प्रभु की महान रचना के भारी–भरकम प्रशासन को थोड़ा सा समझने के लिए भी मनुष्य को कई वर्ष तक निरंतर धैर्यपूर्वक ध्यान–अभ्यास करना होता है और अभी एक जिज्ञासु को इतना ही बताया जा सकता है। ऐसे ही, किसी सच्चे संत–सत्गुरु को समझना भी बहुत कठिन है। लेकिन इसके बावजूद, संत इस संसार में आकर, एक सामान्य मनुष्य की तरह रहते हैं और अपने आपको हमेशा प्रभु और उसके जीवों का दास, ग़ुलाम या सेवक बताते हैं।

संत समर्पित जीवों के कर्मों का भार उठाते समय, 'प्रकृति के नियम' की अवहेलना या उपेक्षा नहीं करते। वे उस राजा की तरह हैं, जो अपनी प्रजा के दुख–दर्द को समझने के लिए, उनके साथ घुलमिल जाता है और कभी–कभी उनकी खुशियों और दुखों में शामिल भी होता है। जहाँ तक मानव शरीर का संबंध है, उसके लिए संत–सत्गुरु अपनी विशेष "रूहानी रियायत" का प्रयोग करता है। संक्षेप में कहें, तो वह फाँसी को काँटे की चुभन में बदल सकता है। इसके लिए वह कभी–कभी अपनी देह को थोड़ी तकलीफ़ भी दे देता है, जो कि एक सामान्य व्यक्ति के लिए शायद बहुत बड़ी विपत्तिकारी सिद्ध हो। इस तरीक़े से वह हमें बताता है कि शरीर में रहकर, हर किसी को दुख झेलना पड़ता है, क्योंकि सब देहधारी जीवों के लिए यही प्रकृति का नियम है। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध का भी यही कहना है कि भौतिक जीवन में दुख ही दुख हैं। संत कबीर कहते हैं कि उन्होंने किसी भी मनुष्य को सुखी नहीं देखा, जिसे भी देखा वही दुखी है। गुरु नानकदेव जी ने अत्यन्त सुन्दरता से दुनिया की तस्वीर खींची है :

नानक दुखीआ सभु संसारु।।

– आदि ग्रंथ (रामकली की वार म॰3, पृ॰954)

अब चूँकि हमें चारों तरफ़ दुख ही दुख दिखाई देता है, इसलिए किसी प्रभुरूप हस्ती को भी हम अपने जैसा आम इंसान समझते हैं। शारीरिक दुखों को सहते वक़्त, वह बाहरी तौर पर तो मनुष्य की तरह व्यवहार करता है, लेकिन वास्तव में वह भौतिक शरीर से हमेशा जुदा होता है। हर पल अन्तर में जुड़े रहने से, वह उस पीड़ा को बरदाश्त कर लेता है, जो किसी शिष्य के लिए असहनीय साबित हो सकती है।

इस पथ का हर पथिक, जिसे रास्ता मिल चुका है और जो अंतर्मुख होने का अभ्यास करता है, शरीर से अपना ध्यान खींचकर, उसे दोनों आँखों के पीछे, आत्मा के ठिकाने पर एकाग्र कर सकता है। इस अवस्था तक पहुँचने की अवधि, विभिन्न मनुष्यों के लिए कम या अधिक हो सकती है, लेकिन यह निश्चित है कि अभ्यास का फल मिलेगा और इस बात की पुष्टि की जा सकती है। समर्पित शिष्य तो शरीर के किसी अंग के ऑपरेशन के समय, बेहोशी की दवा लेने से भी इंकार कर देते हैं। वे अपनी सुरत को शरीर से समेट लेते हैं और सर्जन (शल्य–चिकित्सक) द्वारा शरीर की चीर–फाड़ करने पर उसे महसूस नहीं करते। भाई मनीसिंह को यह सज़ा मिली थी कि उनके शरीर को हर जोड़ से काटकर

टुकड़े–टुकड़े कर दिया जाए। उनके बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने न केवल हँसते–हँसते मरना स्वीकार किया, बल्कि जल्लाद से यह आग्रह भी किया कि वह हुक्म का पूरी तरह से पालन करे, क्योंकि जल्लाद इस दर्दनाक कार्य से बचना चाहता था और शरीर को हर जोड़ से न काटकर, उसके कुछ टुकड़े ही करना चाहता था।

सत्संगी, जो अपनी आँखें खुली रखते हैं, उन्हें ऐसी अनेक घटनाएँ देखने को मिलती हैं। जिन रूहों की अन्तर में रसाई है, वे प्रभु में लीन रहती हैं और अपनी समर्था का दिखावा नहीं करतीं। इसका सीधा सा कारण यह है कि ऐसे कार्य चमत्कारों में गिने जाते हैं और इसलिए इनसे पूरी तरह दूर रहना चाहिए। संत कभी चमत्कार नहीं दिखाते और न ही वे अपने शिष्यों को ऐसे अहंकारी और दिखावटी कार्य करने की अनुमति देते हैं।

संत जब बीमार दिखाई देते हैं, तो वे डॉक्टर द्वारा दी गई दवा ले लेते हैं, परन्तु वास्तव में उन्हें किसी इलाज की ज़रूरत नहीं होती। वे केवल सांसारिक नियम बनाये रखने के लिए ऐसा करते हैं। वे इंसान के सामने यह आदर्श पेश करते हैं कि वह सांसारिक कार्यों को ईमानदारी से करते हुए, ज़रूरत पड़ने पर अपना उचित इलाज करवाए। लेकिन शिष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह केवल उन्हीं दवाइयों को ले, जिन्हें बनाने में देहधारी जीवों की हत्या न हुई हो। लेकिन कुछ शिष्य, जिन्हें गुरु की समर्था पर पूर्ण और अटल विश्वास होता है, अक्सर अपने रोग के इलाज से बचते हैं और प्रकृति को अपना कार्य करने देते हैं, क्योंकि मानव–शरीर में स्वयं को ठीक करने की शक्ति पहले से ही मौजूद है।

शारीरिक रोगों को ख़ुशी से स्वीकार करके सह लेना चाहिए, क्योंकि आमतौर से रोग खान–पान की ग़लतियों के कारण उत्पन्न होते हैं और उन्हें उचित भोजन और स्वास्थ्य के नियमों का पालन करके दूर किया जा सकता है। आधुनिक चिकित्सा–विज्ञान के जनक, हिप्पोक्रेट्स (Hippocrates) ने कहा है कि भोजन दवा की तरह लेना चाहिए। यहाँ तक कि कर्मों के प्रभाव से उत्पन्न जटिल रोगों को भी, बिना किसी शिकायत या कड़वाहट के धैर्यपूर्वक सह लेना चाहिए, क्योंकि कर्मों का लेखा समाप्त करने के लिए, उन्हें भुगतना आवश्यक है। इसलिए बचे हुए कर्मफल को बाद में भोगने के बजाय, इसे यथाशीघ्र यहीं भोगना अच्छा है। महान सूफ़ी संत, हज़रत मियाँ मीर के एक शिष्य, अब्दुल्ला के बारे में कहा जाता है कि बीमारी की हालत में, उसने अपनी सुरत की धारा को दो भ्रू–मध्य, आँखों

के पीछे समेटकर, अपने आपको पूर्णतया शांत और सुरक्षित कर लिया। यह सब देखकर हज़रत मियाँ मीर उसे उसके शरीर में वापस लाए और उसे अपने कर्मों का फल भुगतने का आदेश दिया। उन्होंने उससे कहा कि ऐसी युक्तियों द्वारा, वह कर्मों के प्रभाव से अनिश्चित काल तक मुक्त नहीं हो पाएगा।

संत अपने शरीर की देखभाल और ज़रूरतों के लिए इतना अधिक समय नहीं देते, जितना कि हममें से अधिकतर लोग देते हैं। उनके लिए यह शरीर एक कपड़े के समान है, जिसे एक न एक दिन उतारना है। बिना आराम किए, रात–रात भर जागकर, वे शारीरिक और मानसिक रूप से कड़ी मेहनत करते हैं। ऐसे अद्भुत कार्य, विज्ञान के लिए एक पहेली हैं, जबकि संतों के लिए यह एक सामान्य बात है, क्योंकि वे प्रकृति के उन नियमों की मदद से कार्य करते हैं, जिनसे हम एकदम अनजान हैं।

कर्मों को दो भागों में बाँटा जा सकता है– व्यक्तिगत कर्म और सामूहिक कर्म। सामूहिक कर्म वे कर्म होते हैं, जो किसी समाज या देश द्वारा सामूहिक रूप से किए जाते हैं, और इन्हें 'धर्म' कहते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने कर्मों का फल पाता है, उसी प्रकार समाज को भी अपनी ग़लत नीतियों का परिणाम भुगतना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि बेक़सूर लोग भी अपने 'धर्म' के ग़लत कार्यों की सज़ा पाते हैं। जब नादिर शाह ने भारत पर आक्रमण किया, तो उसने दिल्ली में क़त्लेआम करने का हुक्म दे दिया। इस भयंकर आतंक को देखकर, लोगों में यह आम धारणा थी कि देशवासियों के बुरे कर्म ही नादिरशाह के रूप में प्रकट हुए थे।

किए गए पाप कर्मों का, चाहे वे पाप निषिद्ध कर्मों को करने से हों या फिर उचित कर्मों को न करने से, उचित दंड देना प्रकृति के नियम का मूल आधार है; आप चाहे इसे प्रकोप, आपदा या उन्माद, कुछ भी कह लें।

अध्याय - 4

कर्म और जीवन-चक्र

पुराणों में राजा परीक्षित की एक सुन्दर कहानी आती है। परीक्षित ने सुन रखा था कि जो भी किसी पंडित से भागवत् की कथा सुन ले, उसे जीवित मोक्ष प्राप्त होता है। एक दिन उसने अपने राजपुरोहित को बुलाकर भागवत् की प्रेरणादायक कथा सुनाने को कहा, ताकि वह स्वयं भी मन और माया के बंधन से मुक्त हो सके। उसने यह आदेश दिया कि यदि भागवत् पाठ से मुक्ति की बात असत्य सिद्ध हो, तो पुरोहित को मृत्युदंड दे दिया जाए। पुरोहित सामान्य लोगों की तरह ही था। मौत को प्रत्यक्ष देखकर वह हताश हो गया, क्योंकि उसे यह अच्छी तरह मालूम था कि मुक्ति प्राप्त करने में वह राजा की कोई सहायता नहीं कर सकता। लटका हुआ चेहरा लेकर जब वह घर पहुँचा, तो अपनी नियति के बारे में सोचकर वह चिन्ता में डूबा हुआ था। भागवत पाठ से एक दिन पूर्व तो भय से उसकी जान ही निकली हुई थी। सौभाग्य से उसकी एक बुद्धिमान पुत्री थी। बहुत पूछने पर उसने उसे अपने दुख का कारण बताया। पिता को दिलासा देते हुए उसकी पुत्री ने कहा कि यदि उसे दरबार में साथ जाने की आज्ञा हो, तो वह उसे फाँसी के फंदे से बचा सकती है। अगले दिन वह अपने पिता के साथ दरबार में पहुँची। उसने राजा से पूछा कि क्या वह संसार के बंधन से मुक्त होना चाहता है। राजा के 'हाँ' कहने पर लड़की ने कहा कि जैसा वह कहे, राजा वैसा ही करे और जो वह करना चाहे, उसे करने दिया जाए। उसने दो मज़बूत रस्से लिए और अपने पिता तथा राजा को लेकर जंगल में पहुँची। वहाँ उसने उन दोनों को अलग–अलग पेड़ों से कस कर बाँध दिया। तब उसने राजा से कहा कि वह अपने पुरोहित के बंधन खोल दे। राजा तो स्वयं बँधा हुआ था, इसलिए उसने अपनी असमर्थता ज़ाहिर की। तब लड़की ने राजा को समझाया कि जो स्वयं माया के बंधनों में जकड़ा हुआ है, वह दूसरों को कैसे मुक्त कर सकता है? इसमें कोई संदेह नहीं कि भागवत् सुनने से माया का पर्दा हट जाएगा, लेकिन

पाठ करने वाला स्वयं भी मुक्त हो और उसने माया के जाल को स्वयं तोड़ा हो। इसलिए राजा को पुरोहित से मुक्ति की आशा नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि वह स्वयं बँधा हुआ है। कर्मों के जाल से मुक्त हुआ, कोई निहकर्म इंसान ही दूसरों को मुक्त करके, उन्हें कर्म बंधन से छुड़ा सकता है।

यह कहानी हमें यह भी बताती है कि मात्र धर्मग्रंथों को पढ़ लेने से मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। यह अनुभव की वस्तु है, जो किसी समर्थ महापुरुष से ही प्राप्त हो सकती है, और उसकी देखरेख में अभ्यास करके हम पूर्णता को पा सकते हैं। पूर्ण संत या मुर्शिदे–क़ामिल सर्वप्रथम हमारे बिखरे हुए मन को एकाग्र करते हैं, जो असंख्य इच्छाओं व आशाओं में बँटा हुआ है। इस प्रकार मन को साबुत बनाकर, वे इसे बार–बार साफ़ करते हैं, ताकि प्रभु की ज्योति इसमें झलक उठे। कितनी भी किताबें पढ़ लेने से यह अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता।

धर्मग्रंथों का सही अर्थ तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक कोई पूर्ण पुरुष, जिसने वेद–ग्रंथों में कही गई बातों का स्वयं अनुभव किया हो, इन्हें खोलकर न समझाये। श्लोकों और सूक्तियों में वर्णित गूढ़ ज्ञान, जिसे समझने में सीमित बुद्धि असमर्थ है, उसे वह (संत) निजी अनुभव की सहायता से अपने शिष्यों को बड़ी सरलता से समझा सकता है। इसीलिए कहा गया है :

ਨਾਨਕ ਸਾਧ ਪ्रਭੂ ਬਨਿ ਆਈ।।

– आदि ग्रंथ (गउड़ी म॰5, पृ॰271)

एक मुक्त आत्मा ही दूसरों को मुक्त कर सकती है, अन्य कोई नहीं। इस संदर्भ में यह कहा गया है,

ਸਿਮ੍ਰਿਤਿ ਬੇਦ ਪੁਰਾਣ ਪੁਕਾਰਨਿ ਪੋਥੀਆ।।
ਨਾਮ ਬਿਨਾ ਸਭਿ ਕੂੜੁ ਗਾਲ੍ਹੀ ਹੋਛੀਆ।।

– आदि ग्रंथ (सूही म॰5, पृ॰761)

एक अनुभवी पुरुष में सभी धर्मग्रंथों का समावेश होता है। वह तो इनसे भी बढ़कर होता है, क्योंकि धर्म–पुस्तकों में उस परम तत्त्व का सूक्ष्म वर्णन तो है, लेकिन उसकी व्याख्या करने में और उसका वास्तविक अनुभव प्रदान करने में धर्म–पुस्तकें पूरी तरह असमर्थ हैं।

आजकल हर व्यक्ति अपनी बुराइयों या ग़लतियों के लिए ज़माने को दोष देता है और हर युग में मानव की यही सबसे बड़ी शिकायत रही है। बीते हुए

समय की तरह, आज और आने वाला समय भी हमारा अपना नहीं है। यह संसार एक विशाल चुम्बकीय शक्ति की तरह है– हम इससे जितना भी दूर भागने की कोशिश करते हैं, उतना ही इसके आकर्षण में फँस जाते हैं। संसार के महाजाल में मनुष्य इधर से उधर नाचता है और यही समझता है कि उसे कोई नहीं देखता। बुद्धिमान मनुष्य इस जाल को समझता है, लेकिन इससे छूटने का कोई उपाय उसे दिखाई नहीं देता। इस प्रकार, कर्मों की चक्की का विशाल पहिया, यह जीवन–चक्र, चुपचाप अनवरत चलता रहता है और धीरे–धीरे, पर बिना कोई भूल किए, सबको एक समान पीसता रहता है। प्रकृति की यह चक्की, धीरे ही सही, पर हर किसी को पीस रही है। कुछ लोग समझते हैं और कहते हैं, "ऐसा लगता है कि प्रकृति ने मानव की रचना की और फिर साँचे को तोड़ दिया।"

परन्तु कोई भी वस्तुओं और घटनाओं के बारे में यह जानने की कोशिश नहीं करता कि वे क्यों और कैसे होती हैं और हम समय के बहाव में बहकर आने वाली हर वस्तु या घटना को बड़ी लापरवाही से लेते हैं। हम जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं, उसकी गहराई में जाने की कोशिश नहीं करते और उन कड़ियों को नहीं पकड़ पाते, जो उन सबका कारण है। दूसरों से व्यवहार करते समय व्यक्ति भूल जाता है कि संसार की हर वस्तु के लिए उससे हिसाब माँगा जाएगा। यहाँ तक कि प्रकृति की नियामतें, जैसे धूप, हवा, पानी इत्यादि भी सबको एक समान, निःशुल्क और प्रचुरता से प्राप्त नहीं होतीं। परन्तु हर इंसान स्वयं को ईश्वर की निःशुल्क नेमतों का इकलौता मालिक समझता है। वह अधिक से अधिक उदार बनने की कोशिश करता है, ऐसे कई व्यक्तियों से उसका पाला पड़ता है, जो एक दोषपूर्ण युक्ति से जड़े हीरे के समान हैं और "लेन–देन के नियम" के प्रभाव में आ जाता है। बहुत ठोकरें खाने के बाद ही हम सीखते हैं कि तराज़ू सोने और सीसे में कोई भेद नहीं करती, उसे केवल वज़न से मतलब है। हर कोई यह जानता है कि पंखे से कोहरे को नहीं हटाया जा सकता, लेकिन फिर भी इंसान, यही करने की कोशिश करके, अपनी उलझन को बढ़ावा देता है। कार्य और कारण (cause and effect) की अंतहीन ज़ंजीर से स्वयं बँधा हुआ व्यक्ति, दूसरों को मुक्त नहीं कर सकता। जब संसार में सभी गहरी नींद सोये हैं, तो कौन है जो जगाये, और किसे? केवल कोई मुक्तात्मा ही, अगर वह चाहे, तो दूसरों को मुक्त कर सकता है, क्योंकि जाने–अनजाने में किए गए सभी कर्म

प्रकृति के नियम का आधार हैं और देर–सवेर, किसी न किसी रूप में वापिस कर्ता को उनका फल भुगतना पड़ता है।

परिंदों को पकड़ते समय या पशुओं को पालतू बनाकर उन्हें ज़ंजीरों में क़ैद करते समय मनुष्य समझता है कि इन ग़रीब मूक प्राणियों की सुनवाई करने वाली कोई अदालत है ही नहीं। वह यही सोचता है कि उसे उनके साथ, जैसा भी वह चाहे, बर्ताव करने का हक़ है। उन्हें मारते समय उसे भय नहीं लगता और इस सत्य की तरफ़ भी वह कभी ग़ौर नहीं करता कि "जैसा हम बोते हैं, वैसा ही काटते हैं।" नियम की अज्ञानता से हम उससे मुक्त नहीं हो सकते। हर ग़लती की सज़ा है, जो मारता है, उसे मारा जाएगा। जो तलवार के बल पर जीता है, उसका विनाश भी तलवार से ही होगा। "आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत" का नियम सब पर लागू होता है, जो आज भी उतना ही सत्य है जितना कि यह हज़रत मूसा के वक़्त था। कर्मों का हिसाब होने के दिन तक बेशक़ मौज–मस्ती की जा सकती है। लेकिन अगर हम प्रकृति के क़ानून से आँखें मूँद लें या तंत्र–मंत्र, जादू–टोने में विश्वास रखें, तो इनसे हमारा कुछ भला न होगा। दूसरों को मारने, ख़ून चूसने और हत्या जैसे अपराधों के लिए बड़ी भारी क़ीमत चुकानी पड़ती है। दूसरों के ख़ून पर जीवित रहने और फलने–फूलने वालों का हृदय कभी पवित्र नहीं हो सकता और इसीलिए उनका प्रभु के साम्रज्य तक पहुँचना बहुत ही मुश्किल है।

> धन्य हैं वे लोग, जिनके हृदय पवित्र हैं, क्योंकि वे ही प्रभु को देख पायेंगे।
>
> – पवित्र बाइबिल (मत्ती 5:8)

संत–महात्मा यही कहते हैं कि उसमें बुद्धि–विवेक की क्षमता होने से, सभी प्राणियों में से, मनुष्य का स्थान सबसे ऊँचा है, और इसलिए उसे अपना सीमित जीवन, दूसरे जीवों की भाँति, अंधकार में नहीं बिताना चाहिए। मनुष्य जीवन, परमात्मा की शरण में जाने और अपने असली घर लौटने का एक सुनहरा अवसर है, जिसे खोना नहीं चाहिए। दुनिया का खेल पूरी तरह देख चुकने के बाद और 'संसार के विशाल मंच' पर सफलतापूर्वक अपनी भूमिका निभाने के बाद ही यह स्वर्णिम अवसर हमें प्राप्त होता है। यहाँ मनुष्य प्रायः निम्न कोटि के आकर्षणों में खो जाता है। ऐसा करके वह शुद्ध आत्मा के देश लौटने का एकमात्र अवसर खो देता है, जो उसे कर्मों के ज़बरदस्त प्रभाव के अधीन, लाखों योनियों में जन्म

लेने के बाद ही प्राप्त होता है। वह सामाजिक, शारीरिक और प्राकृतिक – सभी प्रकार के क़ायदे–क़ानूनों के भार को महसूस करता है, जो विशाल शिलाओं की भाँति क़दम–क़दम पर उसका रास्ता रोकते हैं। लेकिन उसके पास अगले मनुष्य जन्म का इंतज़ार करने के अतिरिक्त, दूसरा कोई रास्ता नहीं बचता और कौन जाने कि वह उसे कब प्राप्त होगा?

संतों के अनुसार, पाप का अर्थ है : "अपने स्रोत (या परमात्मा) को भूल जाना।" प्रत्येक विचार, वचन या कार्य जो मनुष्य को प्रभु से दूर करता है, पाप है। दूसरे शब्दों में, जो कुछ भी मनुष्य को प्रभु के क़रीब लाए, वही पवित्र अथवा पुण्य है। एक सूफ़ी संत ने, संसार के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है, "संसार तभी बीच में आता है, जब हम परमात्मा को भूल जाते हैं। अपने परिवार और मित्रों के संग रहकर भी यदि मनुष्य हर समय प्रभु का स्मरण करता है, तो वह संसार में रहकर भी, संसार का नहीं रहता।"

मनुष्य अधिकतर पाप, वे चाहे स्थूल हों या सूक्ष्म, मन के अधीन होकर करता है। सूक्ष्म पापों को संत 'माफ़ की जा सकने वाली कमज़ोरियाँ' मानते हैं, क्योंकि वे प्रभु की दया और प्रेम के जीते–जागते नमूने होते हैं। मनुष्य में जब तक अहम्‌भाव रहता है, वह प्रकृति के नियमों और उनके प्रभाव से बच नहीं सकता। लेकिन किसी संत–सत्गुरु की इच्छा के आगे समर्पण कर देने से, इंसान प्रभु की दया और प्रेम के साये तले आ जाता है।*

कर्म रोग, मनुष्य के घातक, अदृश्य रोगों में से सर्वाधिक संक्रामक (contagious) हैं। हमारे कर्म, मानव की अंतरतम कोशिकाओं में फैलने वाले और रक्तप्रवाह में चुपके से घुस जानेवाले सबसे प्राणघातक और ज़हरीले कीटाणुओं से भी कहीं ज़्यादा विनाशकारी और संहारक हैं। कर्म, सबसे पहले तथाकथित समाज सुधारकों के विचारों और उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन लाकर, समाज में अपनी पकड़ मज़बूत करते हैं। तत्पश्चात् वे मनुष्य की मनोवृत्ति और स्वभाव पर असर डालकर, धीरे–धीरे आदतों के रूप में अपनी जड़ें जमा लेते हैं और यही आदतें मनुष्य का 'दूसरा स्वभाव' बन जाती हैं। इसलिए हमारे बड़े–बूढ़े हमेशा बुरी सोहबत से बचने की नेक सलाह देते आए हैं। "अच्छी संगति अच्छाई को और बुरी, बुराई को जन्म देती है।" निःसंदेह व्यक्ति अपनी सोहबत से जाना जाता है।

इन सब मुश्किलों के अलावा मनुष्य को अपने परिवार, जहाँ वह पला–बढ़ा है, के कर्म फल का भागीदार भी बनना पड़ता है। अतः सद्‌गुण व दुर्गुण, संस्कृति

के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इस प्रकार, हर दिन और हर पल हम अपने वातावरण से कर्म ग्रहण करते रहते हैं। कर्मों के असर से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि हम संतों की शरण में रह कर प्रभु–प्राप्ति के मार्ग पर दृढ़ता से चलते रहें। क्योंकि संत परमात्मा से एकरूप होते हैं, इसलिए वे कर्मों की पहुँच से परे होते हैं और निहकर्म व जीवन–मुक्त होते हैं। यह कहा जाता है कि सच्चे दरवेश की बादशाहत में कर्मों का हिसाब नहीं माँगा जाता। साधु की संगत ग्रहण करने पर व्यक्ति अच्छाई की तरफ़ रुख़ कर लेता है। परन्तु मनुष्य, संतों की शरण में जाने के बजाय, बुराई की तरफ़ आसानी से झुक जाता है। हमारी हर तरह की बुराइयों का नाश करने में संतों की संगत बहुत प्रभावशाली है। संतों की बादशाहत इतनी विशाल है कि मनुष्य उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

संत केवल मनुष्य मात्र की भलाई के लिए नहीं आते, बल्कि वे सृष्टि के सभी जीवों, जड़–चराचर, दृश्य–अदृश्य, सबकी भलाई के लिए संसार में आते हैं। बेचारे मानव का यहाँ कोई सच्चा मित्र नहीं है। सत्व, रज और तम– इन तीन गुणों द्वारा, उसका मन एक कुटिल मित्र की तरह व्यवहार करता है और उसकी तरफ़ ऐसे देखता है, जैसे एक बिल्ली बहुत बेताबी से किसी चूहे पर नज़रे जमाये रहती है। जो लोग मन के कहने पर चलते हैं, वे अवश्य इसके जाल में फँस जाते हैं और उन्हें अनेक दुख और तकलीफ़ें सहनी पड़ती हैं। लेकिन मन ऐसे लोगों के निकट जाने से डरता है, जिन पर प्रभु अपने बंदों, या'नी संतों के ज़रिये दया–दृष्टि रखता है। प्रेमी भक्तों को प्राप्त विशेष रियायत या रहमत में मन कोई अड़चन डालने की हिम्मत नहीं कर सकता, बल्कि वह तो ऐसे लोगों की मदद करता है– वैसे ही जैसे एक छोटा कर्मचारी, बड़े अफ़सर का कहना मानता है। आग की तरह, यदि मन हमारा नौकर बन कर रहे तो अच्छा है, परन्तु मालिक बन जाए तो बहुत बुरा है।

साध कै संगि नही कछु घाल।।
दरसनु भेटत होत निहाल।।

– आदि ग्रंथ (गउड़ी म॰5, पृ॰272)

साधसंगि बिछुरत हरि मेला।।

– आदि ग्रंथ (गउड़ी म॰5, पृ॰272)

* व्याख्या के लिए परिशिष्ट–II देखें।

श्री गुरु नानकदेव जी ने बहुत ज़ोर देकर कहा है :

नानक कचड़िआ सिउ तोड़ि ढूढि सजण संत पकिआ।।
एहि जीवंदे विछुड़हि एइ मुइआ न जाही छोड़ि।।

– आदि ग्रंथ (मारू की वार म॰5, पृ॰1102)

फिर कहा :

सजण सेई नालि मै चलदिआ नालि चलंन्हि।।
जिथै लेखा मंगीऐ तिथै खड़े दिसंनि।।

– आदि ग्रंथ (सूही म॰1, पृ॰729)

महान सूफ़ी संत, बाबा फ़रीद ने इसी अंदाज़ में कहा है :

उठु फ़रीदा गमन कर दुनिया भालण जाए।
मत को बखसिया तै मिले, तू भी बखसिया जाए।।

(ऐ फ़रीद! उठ और किसी वली अल्लाह की तलाश में सारी दुनिया को छान, क्योंकि सिर्फ़ तभी तुम बख़्शे जा सकते हो।)

फिर आता है :

साध कै संगि न कतहूं धावै।।
साध संगि असथिति मनु पावै।।

– आदि ग्रंथ (गउड़ी म॰5, पृ॰271)

गुरुवाणी में आता है :

मनु बैरागि रतउ बैरागी सबदि मनु बेधिआ मेरी माई।।
अंतरि जोति निरंतरि बाणी साचे साहिब सिउ लिव लाई।।

– आदि ग्रंथ (सोरठ म॰1, पृ॰634)

भौतिक और मानसिक तौर पर हर इंसान, कर्मों के अदृश्य बंधन में बँधा है। मनुष्य जब तक माया के वश में रहता है और संतों की शरण में नहीं आता, तब तक अलग–अलग मंडलों के सभी नियम–क़ायदे उस पर लागू होते हैं और जब उसके कर्मों का लेखा–जोखा किया जाता है, तो दया के नाम पर उसे कोई रियायत नहीं मिलती। सभी सूक्ष्म कर्मों और अनजाने में हुए पाप कर्मों की सज़ा उसे भुगतनी पड़ सकती है। इस दुनिया में हमारा कोई लम्बा मुक़द्दमा किसी मित्र की मदद से शीघ्र निपट सकता है, लेकिन उस महान अदालत में, प्रभु के दरबार

में जब हमारी पेशी होती है, तो वहाँ कोई संत–सत्गुरु ही हमारा सच्चा मित्र होता है। जपुजी साहिब में गुरु नानकदेव जी फ़रमाते हैं :

पंच परवाण पंच परधानु।। पंचे पावहि दरगहि मानु।।
पंचे सोहहि दरि राजानु।।

– आदि ग्रंथ (जप जी 16, पृ°8)

आगे कहा :

संतन मोकउ पूंजी सउपी तउ उतरिआ मन का धोखा।।
धरमराइ अब कहा करैगो जउ फाटिओ सगलो लेखा।।

– आदि ग्रंथ (सोरठ म°5, पृ°614)

संतों का मार्ग एकदम अलग दिशा में ले जाता है। दीक्षित शिष्यों को कहीं भी पेश नहीं होना पड़ता। सत्गुरु हर जगह मौजूद होता है और उनकी दया की विशालता हमारी कल्पना में नहीं आ सकती। वह अपने शिष्य का संग कभी नहीं छोड़ता और सृष्टि के अंत तक वह उसके साथ रहता है। वह हमें भरोसा देता है :

मैं तुम्हारे साथ चलूँगा और ज़रूरत पड़ने पर तुम्हारा मार्गदर्शन भी करूँगा।

– Everyman

एक दयालु और कृपालु पिता की तरह, वह ग़लती करने वाले बच्चे को स्वयं चाहे कुछ भी सज़ा दे दे, लेकिन उसे पुलिस के हवाले कभी नहीं करेगा।

स्वयं को मुक्त समझने के भ्रम में रहने वाला व्यक्ति, सबसे अधिक बंधन में है। उच्च–स्तर के परिवेश में जन्मी आत्माओं के लिए महत्वाकांक्षाएँ उसके बंधन का कारण बन जाती हैं। सांसारिक दृष्टि से जो संपन्न हैं, वे हमें सुखी दिखाई पड़ते हैं। हो सकता है, उन्होंने कुछ अच्छे बीज बोये हों जिनकी भरपूर फ़सल उन्हें इस जन्म में मिल रही है या फिर, "छीनो, झपटो और जमा करो" की नीति पर चलकर स्वयं वे अपने लिए "भिड़ों का छत्ता" बना रहे हैं। सुखों को भोगने वाले ये लोग, दुर्भाग्यवश यह भूल जाते हैं कि दिखाई न दी जाने वाली सोने की बेड़ी पहनकर, वे अनजाने में ही मुसीबत में फँस रहे हैं।

यह आम कहावत है, "बड़े लोगों के महल ग़रीबों के पसीने और आँसुओं से बनते हैं।" अच्छे बीज बोये बिना, कोई अच्छी फ़सल कैसे काट सकता है? संभव है कि कुछ पापों का बोझ भी उसके आस्तीनों में छिपा हो। यदि वह अब

अच्छे बीज नहीं बोता, तो भविष्य में अच्छे फल की आशा कैसे और कब तक कर सकता है?

इसके अलावा, शुभकर्म अपने आप में, उसे उसके बुरे कर्मों के फल से छुटकारा नहीं दिला सकते, ठीक उसी प्रकार जैसे गंदले पानी से साफ़ धुलाई नहीं हो सकती। एक ईसाई संत ने कहा है कि अपने सभी सद्गुणों के बावजूद हम गंदगी से भरे चिथड़े हैं। कोई भी स्वच्छ नहीं है, एक भी नहीं। मनुष्य हमेशा लेन–देन या फल और प्रतिफल के नियम से बँधा रहता है। बेशक़ शुभ कर्म करना ठीक है और बुरे कर्मों के बजाय इन्हें करना अच्छा है, पर ये सब कुछ नहीं हैं। सदाचारी जीवन से किसी को दीर्घकाल तक स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, जहाँ रहकर वह आराम से स्वर्गिक सुखों को भोग सकता है। लेकिन वहाँ भी, वह अपने सूक्ष्म और कारण शरीरों में क़ैद है अर्थात जन्म–मरण के चक्र से वह अभी मुक्त नहीं हुआ है। जब तक व्यक्ति यह मानता है कि वही कर्ता है, तब तक जन्म–मरण के चक्र से उसकी मुक्ति संभव नहीं और उसे अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। 'नाम' या 'शब्द' से जुड़कर ही मनुष्य उच्च रूहानी मंडलों में प्रवेश कर सकता है और इस प्रकार, वह जन्म–मरण की परछाई से बहुत दूर चला जाता है। आवागमन के चक्र से मुक्त होने का कोई अन्य उपाय नहीं है।

पृथ्वी पर किए गए अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार, देहरहित आत्माओं को स्वर्ग या नर्क में अपेक्षाकृत लंबे समय तक रहना पड़ता है। परन्तु इन लोकों में निवास सदा के लिए नहीं होता है और न ही यह हमें जन्म–मरण के बंधन से मुक्त कर सकता है। कुछ धर्मों में स्वर्ग (अदन का बाग़, एल डोराडो) को ही अन्तिम धाम व मुक्ति की अवस्था माना जाता है, जबकि यह सत्य नहीं है। अपने–अपने शुभ कर्मों के अनुसार एक निर्धारित अवधि तक स्वर्ग के सुखों को भोगने के बाद जीव को एक बार फिर मनुष्य शरीर प्राप्त होता है, क्योंकि इसी जन्म में उसे पुण्य कमाने का अवसर मिलता है, जो उसे मुक्ति की ओर ले जाता है। देवी–देवता भी अपना कार्यकाल पूरा करने के बाद, मानव देह की कामना करते हैं। शुभ कर्मों में सभी लोग विश्वास करते हैं और इन्हें सही मानते हैं, लेकिन शुभ कर्मों के मार्ग पर चलकर भी मनुष्य अंत में यही पाता है कि वह फिर से कभी न तृप्त होने वाली इच्छाओं और कामनाओं के जाल में फँस गया है। इस तरह, वह अनजाने में कर्मों के लौह–जाल में फँस जाता है।

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह कई प्रकार के तप इत्यादि करता है, ताकि उसे अच्छा जन्म मिल सके। लेकिन किसी राज्य का स्वामी बन जाने पर भी उसके मन की दौड़ समाप्त नहीं होती है और वह निरंकुश होकर, युद्ध जैसे बड़े–बड़े बुरे कार्य करने लगता है और इस प्रकार नर्क में जाने के लिए पर्याप्त मात्रा में बुरे कर्म जमा कर लेता है। नर्क की आग में जलने के बाद, वह फिर से तप आदि में शांति पाने का प्रयास करता है। इच्छाओं और कामनाओं के जाल में बुरी तरह उलझकर, वह नर्क से पश्चाताप, पश्चाताप से स्वर्ग और स्वर्ग से फिर नर्क के दुश्चक्र में फँसा रहता है और इस प्रकार जीवन का यह चक्र सतत् घूमता रहता है। इसलिए प्रत्येक जीव अपने लिए स्वयं ही स्वर्ग या नर्क का निर्माण करता है और अपने संकल्पों द्वारा बुने गए जाल में वह स्वयं ही फँस जाता है।

स्वर्ग और नर्क उन लोगों के रास्ते में रुकावट नहीं बनते, जो संतों का मार्ग, या'नी दोनों भौंहों के मध्य स्थित, बीच का रास्ता अपनाते हैं और कर्मयोगी के मार्ग को एक तरफ़ छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। संतों की शरण में आई हुई कोई आत्मा यदि कुछ समय के लिए भटक जाती है, तो भी उसका उद्धार निश्चित है। यद्यपि संत नम्रता के जीते–जागते उदाहरण होते हैं और अपनी समर्था के विषय में कुछ नहीं बताते, फिर भी कभी–कभी वे पिछले संतों की कल्याणकारी सामर्थ्य का अप्रत्यक्ष रूप से वर्णन कर देते हैं। धर्मग्रंथ बताते हैं कि गुरु नानकदेव जी ने एक बार अपने एक ऐसे शिष्य की रक्षा की थी, जो भटक कर नर्क में चला गया था। अपनी खोई हुई भेड़ को बचाने के लिए, उस पावन महापुरुष को नर्क की धधकती आग में अपना अँगूठा लगाना पड़ा, जिससे सारा नर्क कुंड ही ठंडा पड़ गया और इससे एक नहीं, बल्कि दया को तरसती अनेक पापी रूहों को ठंडक प्राप्त हुई। ऐसी घटनाएँ राजा जनक और अन्य संतों के समय में भी हुई हैं। एक बार मेरे सत्गुरु, हुज़ूर बाबा सावनसिंह जी महाराज ने भी अपने एक भटके शिष्य को इसी तरह बचाया था। लेकिन एक साधारण जीव किस प्रकार नर्क से मुक्ति पा सकता है? गुरु नानक कहते हैं :

जिनी नामु धिआइआ गए मसकति घालि।।
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि।।

– आदि ग्रंथ (जप जी अन्तिम, पृ॰8)

मुस्लिम संतों ने 'एहराफ़' नाम के एक मंडल का ज़िक्र किया है जहाँ सुख और दुख दोनों हैं। विभिन्न संतों ने अपने अनुभव के आधार पर नर्क की पीड़ा और

तकलीफ़ों का वर्णन किया है। यह सब कोरी कल्पना न होकर गंभीर विचार का विषय है। कोई विश्वास करे या न करे, संतों के शिष्य का इन सबसे कोई वास्ता नहीं है। जब तक शिष्य अपने सत्गुरु के प्रति सच्चा है, संसार की कोई ताक़त उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकती। संतों का सच्चा शिष्य यही कहता है :

संतन सिउ मेरी लेवा देवी संतन सिउ बिउहारा।।
संतन मोकउ पूंजी सउपी तउ उतरिआ मन का धोखा।।
धरमराइ अब कहा करैगो जउ फाटिओ सगलो लेखा।।

– आदि ग्रंथ (सोरठ म॰5, पृ॰614)

फिर कहा :

अफरिओ जमु मारिआ न जाई।। गुर कै सबदे नेड़ि न आई।।
सबदु सुणे ता दूरहु भागै मतु मारे हरि जीउ वेपरवाहा है।।

– आदि ग्रंथ (मारू सोलहे म॰3, पृ॰1054)

अध्याय- 5

कर्मों का फल

संसार में यह नहीं कहा जा सकता कि कोई भी मनुष्य सिर्फ़ अपने लिए पैदा हुआ है, क्योंकि कोई भी अकेला रहकर नहीं जी सकता। ग़रीबों, मोहताजों और भूखों की सेवा करना भी एक पायदान है, जो कोरे उपदेश देने से तो अच्छा है। "स्वः से पहले सेवा", सहानुभूति, दया और प्रेम की चिंगारियों को प्रज्ज्वलित कर देती है। आत्मा की मलिनता दूर करने में इन गुणों का बहुत निर्मलकारी प्रभाव है, जो उसे परम–ज्ञान पाने के योग्य बनाता है। यह आम कहावत है, "सेवा से मिलने वाले सुख का मज़ा ही कुछ और है।"

किसी की हत्या न करना या चोट न पहुँचाना ही अहिंसा नहीं है, बल्कि इसमें बुरे विचार और कड़वे बोल भी शामिल हैं। पशुओं के लिए चाहे ऐसा न हो, परन्तु मनुष्य में अहिंसा शक्ति का संचार करती है। यह दूसरे गुणों से अच्छा ही नहीं वरन् सर्वश्रेष्ठ गुण है। प्रभुभक्ति के पथ के सच्चे परमार्थ अभिलाषियों की सेवा, अन्य सभी प्रकार की सेवाओं से उत्तम है। सेवा के तरीक़ों में, सचमुच ज़रूरतमंदों और दरिद्रों को दान देना, अगम्य स्थानों पर कठिन कार्य करने वालों को भोजन करवाना, रोगियों की सेवा और दीन–दुखियों की मदद करना शामिल हैं। परमार्थ–पथ पर इन गुणों से मदद मिलती है; इसलिए हर संभव तरीक़े से इन्हें अपनाकर, उद्यमशीलता से इनका विकास करना चाहिए। लेकिन मनुष्य को मात्र इनसे संतुष्ट न होकर, इन आत्मशुद्धिकारक साधनों की मदद से, सत्गुरु द्वारा बताये गए मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते जाना चाहिए।

प्रेम संसार की अधिकतर बुराइयों का इलाज है। प्रेम सब गुणों की खान है। जहाँ प्यार है, वहाँ शांति है। "प्रेम करो, और बाक़ी सब बरक़तें तुम्हें मिल जायेंगी"— यही ईशु मसीह की शिक्षा का सार–तत्त्व है। ईसाई धर्म मुख्यतः इन दो सिद्धांतों पर आधारित है :

ईश्वर को पूरी आत्मा से, पूरे मन से एवं पूरी शक्ति से प्रेम करो।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 22:37) तथा (विवरण 6:5)

अपने पड़ोसी से वैसा ही प्रेम करो, जैसा तुम अपने आप से करते हो।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 22:39)

प्रभु प्रेम है और आत्मा भी उसका अंश होने के नाते, प्रेम ही है। संत यूहन्ना (सेंट जॉन) ने कहा है :

वह जो प्रेम नहीं करता, वह परमात्मा को नहीं जानता, क्योंकि प्रभु प्रेम है।

– पवित्र बाइबिल (I यूहन्ना 4:8)

और प्रभु से मुहब्बत करने वाला अपने भाइयों से भी प्यार करता है। गुरु गोबिन्द सिंह जी इसीलिए प्रेम की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं :

साचु कहों सुनि लेहु सभै जिन प्रेम कीओ तिन ही प्रभ पाइओ।।

– दसम ग्रंथ (अकाल उसतति, पृ॰14)

एक सूफ़ी, ख़्वाजा मीर दर्द ने कहा है :

दर्दे-दिल के वास्ते पैदा किया इनसान को,
वरना ता'अत के लिए कुछ कम न थे कर्रो-बयाँ।

अर्थात खुदा ने इंसान को प्यार के लिए, दूसरों का दर्द महसूस करने के लिए बनाया है। अन्यथा उसकी स्तुति के लिए देवता ही काफ़ी थे।

सच्चा और सदाचारी जीवन* इन सब गुणों से ऊपर है। मनुष्य को सर्वप्रथम अपने प्रति सच्चा बनना चाहिए। हममें से अधिकतर के साथ यही मुश्किल है कि हमारे मन, वचन और कर्म में समानता या एकरूपता नहीं है। हमारे मन में कुछ है, ज़बान पर कुछ है और हमारे कर्मों में कुछ और है। शेक्सपियर ने कहा है :

अपने प्रति सच्चे बनो, और तब, जैसे दिन के बाद रात अवश्य आती है, तुम किसी से भी झूठा बर्ताव नहीं कर सकते।

– शेक्सपीयर– 'हॅमलेट' [Shakespeare- 'Hamlet']

* व्याख्या के लिए पुस्तक के अंत में परिशिष्ट–I देखें।

तुम शरीर के निवासी हो, वह करनहार प्रभु भी इस शरीर में है। यदि आप स्वयं के प्रति सच्चे हो, तो आपको किसी से डरने की ज़रूरत नहीं। जब तुम किसी को धोखा देते हो, तो तुम पहले अपने आप को धोखा देते हो। स्वामी रामतीर्थ को जब किसी ने संसार में व्याप्त धोखाधड़ी के प्रति सचेत किया तो उन्होंने कहा, "राम, राम को धोखा नहीं दे सकता।" सच्चाई सब गुणों में उत्तम गुण है, परन्तु एक सच्चा जीवन उससे भी ऊपर है। असत्य आचरण और शारीरिक वासनाओं द्वारा शरीर रूपी हरि–मंदिर को मलीन करके, इसे शैतान का घर बनाने के बजाय, हमें यही कोशिश करनी चाहिए कि हमारा जीवन पवित्र और सदाचारी बनें।

यह आम धारणा है कि धन–संपत्ति द्वारा मनुष्य को शांति प्राप्त होती है, परन्तु यह माया मृग–मरीचिका बनकर मूर्खों को धोखा देती है और अमीरों के लिए यह एक आफ़त बन जाती है। इससे हमारा मन विचलित होकर भटक जाता है। एक बार सही रास्ते से भटक जाने के बाद मन बेतहाशा पाप–कर्मों में लिप्त हो जाता है, जिसका परिणाम बहुत बुरा होता है। मन, वचन और कर्म से स्वयं को सांसारिक विषय–भोगों में डुबो देना बड़ा भारी पाप है, जिसका दंड मृत्यु है। सांसारिक सुखों का मार्ग और प्रभु को पाने का मार्ग एकदम अलग–अलग हैं। इसलिए यह ज़रूरी है कि मनुष्य अपनी इच्छानुसार किसी भी मार्ग को अपना ले। क्योंकि हमारा मन तो एक ही है, जो एक तरफ़ आत्मा और शरीर को जोड़ता है, तो दूसरी ओर, शरीर को संसार और इसके पदार्थों से। इसलिए मनुष्य को दोनों विकल्पों में से किसी एक को ही चुनना होगा। एक बार रास्ता चुन लेने पर व्यक्ति को मजबूरन अपनी मंज़िल, वह चाहे कुछ भी हो, की प्राप्ति के लिए लगातार चलना है। धन–संपत्ति, अपने आप में, 'रूहानियत' के रास्ते में कोई रुकावट नहीं है, क्योंकि रूहानियत अमीर–ग़रीब, सबकी साँझी विरासत है और इनमें से कोई भी इसे अपनी विशिष्ट धरोहर नहीं मान सकता।

इस रास्ते पर सफलता प्राप्त करने के लिए चाहिए सच्ची तड़प, ईमानदारी से प्रयास, सदाचारी जीवन और लक्ष्य के प्रति दृढ़–भक्ति। एक धनवान व्यक्ति को यह अवश्य देखना चाहिए कि दौलत नाजायज़ ढंग से इकट्ठी न की जाए। ईमानदारी से अर्जित धन भी, व्यर्थ के कार्यों और नश्वर सुख की प्राप्ति में न गँवाकर, सत्कार्य में ख़र्च करना चाहिए। अपने धन को हमेशा प्रभु की अमानत समझकर ज़रूरतमंदों, निर्धनों, भूखे–प्यासों और दीन–दुखियों की मदद में ख़र्च

करना चाहिए, क्योंकि एक जैसे मानव–प्राणी और एक ही पिता की संतान होने के नाते, उस पर सबका हक़ है।

यही उपदेश महर्षि अष्टावक्र ने राजा जनक को दिया था। आत्मज्ञान का वास्तविक अनुभव प्रदान करने के बाद उन्होंने राजा जनक को उसका राजपाट वापिस लौटा दिया, जिसे राजा ने दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व उन्हें अर्पित कर दिया था। अष्टावक्र, जो कि एक प्रभुरूप हस्ती थे, ने राजा जनक से कहा कि इस राजपाट को वह उनकी तरफ़ से उपहार समझकर ग्रहण करे और इसका उपयोग अपने राज्य और अपनी प्रजा की भलाई के लिए करे, जिसकी देखभाल का दायित्व प्रभु ने उसे सौंपा था। नेक तरीक़े से अर्जित धन का भी, यदि सही और समझदारी से उपयोग न किया जाए, तो मनुष्य पथभ्रष्ट हो सकता है। तब वह अहंकारवश होकर अपने धन का ग़ुलाम बन जाता है। इस तरह अनजाने में वह सोने की ज़ंजीरों में बँध जाता है, जो उसे क़ैद करके रखती हैं। इसलिए ईसा मसीह ने बहुत स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी थी कि एक ऊँट का सूई के छिद्र से निकलना आसान है, परन्तु किसी अमीर व्यक्ति का प्रभु के राज्य में प्रवेश करना बहुत मुश्किल है। नोबेल पुरस्कार से सम्मानित कवि, टी. एस. एलियट ने कहा है :

फ़सल का ख़्याल छोड़कर, सही बुवाई पर ध्यान दो।

– टी;एस एलियट [T.S. Elliot- 'Choruses from 'The Rock'...]

इस प्रकार बुवाई ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अच्छी फ़सल बीज की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। फिर आती है उचित देखभाल, परिष्करण या सुधार प्रक्रिया, जो सामान्यतः काफ़ी समय तक चलती है, और प्रत्येक के पिछले संस्कारों के अनुसार इसमें कुछ जन्म लग सकते हैं। लेकिन भक्ति मार्ग पर दृढ़ रहकर और सत्गुरु की दयामेहर से, मनुष्य इस कठिन और धोखों से भरे रास्ते को आसानी से लांघ जाता है। कबीर साहिब ने फ़रमाया है :

सतगुरु बड़े सराफ हैं, परखें खरा अरु खोट।
भवसागर तें निकारि कै, राखैं अपनी ओट।।

– कबीर साखी संग्रह, भाग 1 (गुरुदेव का अंग 116, पृ.10)

किसी अनुभवी पथ–प्रदर्शक की सहायता से और सच्ची लगन द्वारा इस रास्ते की पथिक, हमारी आत्मा, संसार में रहते हुए भी, भवसागर को आसानी से पार कर जाती है।

प्रतिदिन भजन–सुमिरन न करने वाले सदा मुश्किल में रहते हैं। वे नित्य विषय–भोगों की लहरों पर बहा करते हैं। वैराग्य को धारण करने से आत्म–शुद्धि में अवश्य मदद मिलती है और शिष्य इस योग्य बन जाता है कि वह धीरे–धीरे असंख्य इच्छाओं के विषवृक्ष की शाखाएँ काटकर, अंत में उसकी जड़ पर प्रहार कर सके।

कोई भी दूध से धुला नहीं है। इंसान ग़लतियों का पुतला है और ग़लती करना उसकी विशेषता है। पाप में गिरना इंसान की आदत है, परन्तु उसमें गिरे रहना शैतान का काम है। बुराई की दौलत को इकट्ठा करने से कोई लाभ नहीं मिलता। किसी मन्दिर (धर्म) में पैदा होना अच्छा है, पर उसकी जकड़नों में मर जाना पाप है, क्योंकि हमें विभिन्न धर्मों के कर्मकांडों–रीति रिवाज़ों और औपचारिकताओं की K.G. की कक्षा से ऊपर उठकर, आध्यात्मिकता की चमकती धूप में अग्रसर होना है। यदि हम भविष्य को जानने और परे की सच्चाई में जागना चाहते हैं, तो हमें इस रास्ते को भली–भाँति समझना होगा। जिसे अपने भविष्य का कोई ख़्याल नहीं, वह अपने वर्तमान को भी शीघ्र नष्ट कर लेगा। दुख व पाप हमारे सदा के साथी हैं और हमारे साथ–साथ चलते हैं। छोटी–छोटी भूलें, धीरे–धीरे बड़ी भूलें बन जाती हैं, जबकि सच्चा पश्चाताप कर लेने से वे आधी माफ़ हो जाती हैं। सच्चा पश्चाताप करने के बाद नेक कार्य करने से हमारे दुख कम हो जाते हैं। यदि शैतान न होता, तो मनुष्य प्रभु–प्राप्ति के लिए शायद ही कोई प्रयत्न करता। जिस व्यक्ति के सिर पर घोर विपत्ति के बादल मँडराते रहते हैं, वह सर्वोत्तम जीवन जीता है, क्योंकि वह जीने के लिए भरसक कोशिश करता है। दूसरों में दोष निकालना बहुत आसान है, लेकिन स्वयं को सुधारना उतना ही मुश्किल है, क्योंकि दूसरों की आँख का तिनका तो हम देख लेते हैं, परन्तु अपनी आँख का शहतीर हमें नज़र नहीं आता। प्रभु का भय, विवेकशील बनने की शुरूआत भर है और ख़तरे का आभास होने से आधा बचाव हो जाता है। जो पहले सावधान हो जाए, वही लड़ने के लिए तैयार रह पाता है।

जो लोग स्थूल जगत से बँधे हैं और यदि अपने आप को मन–माया के बंधनों से आज़ाद करना चाहते हैं, तो उन्हें किसी मुक्त पुरुष या संत–सत्गुरु के हुक़्म में रहना चाहिए। यदि हम अपनी चिन्ताओं का सारा बोझ सत्गुरु के चरणों में रख दें, तो पापों की मज़बूत जकड़ धीरे–धीरे परन्तु निश्चित रूप से ढीली हो जाएगी।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

— श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (अ. 18:66)

अर्थात 'सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ,' यही भगवान कृष्ण का आदेश था। ईशु मसीह ने भी कहा :

अपने सब प्रयास छोड़कर मेरे पास आओ, मैं तुम्हें शांति प्रदान करूँगा।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 11:28)

सच्चे गुरुमुख शिष्य बीमारी की कोठरी को भी अपने लिए भक्ति का मंदिर महसूस करता है। जो शब्द–अभ्यास से अच्छी तरह वाक़िफ़ है और दूसरों को उसकी दीक्षा दे सकता है, वही सच्चा गुरु या रहबर और मुर्शिदे–क़ामिल है। एक योग्य प्रशासक के समान वह सब कर्मों को समेट कर हमारा ख़ाता समाप्त कर देता है और ईसा की तरह कहता है, "बस, और पाप मत करो।" इसी तरह हुज़ूर बाबा सावनसिंह जी के सत्संग में जब कोई खड़े होकर अपने पाप क़बूल करता था और माफ़ी माँगता था, तो हुज़ूर प्यार से अपना दाहिना हाथ उठाकर कहते थे, "जो अब तक हो गया सो हो गया, लेकिन आगे मत करना।"

तब क्या हम कुछ भी कर्म न करें? क्या यह संभव है? इसका उत्तर अति सरल है। जब तक यह मन शासन करता है, मनुष्य कर्म किए बिना नहीं रह सकता और कर्म करना भी चाहिए। हाँ, इतना हो सकता है कि शिष्य अपने मुर्शिद के हुक़्म के अनुसार, अपने कर्मों पर क़ाबू रखते हुए श्रेष्ठ गुणों का विकास करे। निठल्ला रहकर मनुष्य धीरे–धीरे बुराई की ओर प्रवृत्त हो जाता है और उसकी दबी हुई बुराइयाँ बाहर आने लगती हैं। यदि किसी को फूलों की सेज की तमन्ना है, तो उसे अपने लिए फूल की ही बुवाई और खेती करनी चाहिएँ। लेकिन हम हमेशा बिना सोचे–समझे, अपने स्वार्थ के लिए कार्य करते हैं। हम नहीं जानते कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं। संत–सत्गुरु अपने वक़्त का रूहानी बादशाह होता है। वह प्यार, मार्गदर्शन, आदेश और उदाहरण द्वारा मनुष्य को भक्ति और श्रद्धा के मार्ग पर लगा कर, उसमें आंतरिक नज़ारों ('नाम', 'शब्द', 'प्रभु का नाद', 'कलमा' या 'क़लामे–क़दीम', 'आकाशवाणी' या 'बाँगे–आसमानी') के प्रति प्रेम पैदा करता है और उन्हें वह उस में प्रकट कर देता है।

किसी महापुरुष का आदर इस कारण नहीं होता कि वह किसी ख़ास जगह रहता है, बल्कि उस स्थान की पूजा महापुरुषों की वजह से होती है। जहाँ

महापुरुष बैठता है, वहीं तीर्थ बन जाता है। इसलिए पूर्ण पुरुष सबसे अधिक आदर, प्रेम और श्रद्धा का पात्र है। वह हमें दिव्य सम्पर्क देकर, शरीर को भूल पाने का अनुभव देता है। तब हमें अपने अन्दर दिव्य कड़ियों की झलक मिलती है और विभिन्न अवस्थाओं से दर्जा–ब–दर्जा गुज़र कर हमें और अधिकाधिक अंतरीय अनुभव प्राप्त होते हैं। हमारे बहुत से पाप उसके सत्संग में बैठने से ही समाप्त हो जाते हैं। पत्र–व्यवहार, भजन–अभ्यास या मन ही मन उसकी संगत करने से, कर्मों और बुरी संगत के प्रभाव से बचने में बहुत मदद मिलती है। यद्यपि मनुष्य के पाप–कर्मों का कोई अंत नहीं, मगर इसके साथ–साथ परमात्मा की असीम दयामेहर का भी कोई अंत नहीं है। जीवन के सफ़र में हम चाहे किसी भी जाति, धर्म, देश या स्थान में रहें, हमारा मुख्य सरो–सामान (सामग्री) 'नाम और शब्द' है— अर्थात अन्तर में स्थित अमर जीवन, प्रभु की 'ज्योति' और 'शब्द' को पाना। प्रभु के अनेकों नाम, जो हमें मालूम हैं और जिन्हें हम अक्सर दोहराते हैं, हमारे बनाए हुए हैं, क्योंकि वह अनाम प्रभु–सत्ता तो अखंड, अकथनीय और वर्णनातीत है।

संत–सत्गुरु सच्चा रूहानी पिता होता है। वह दूर से पापियों और धर्मियों– दोनों की भलाई के लिए आता है, क्योंकि दोनों ही सांसारिक बंधनों— वे चाहे लोहे के हों या सोने के, में समान रूप से बँधे हुए हैं। वह सबसे प्रेम करता है और प्रेम से दया उपजती है। सिर्फ़ इसलिए कि तुम एक पापी हो, उसके पास जाने से कभी मत डरो। वह अपने बच्चे को सही राह पर लाने के लिए जेल या सुधारगृह में नहीं भेजेगा और न ही उसे शारीरिक दंड देगा। एक दयालु और कृपालु पिता कभी ऐसा नहीं करता। स्वयं सत्गुरु ग़लती करने वाले बच्चे को झिड़ककर या कोई मामूली शारीरिक पीड़ा देकर ठीक कर लेगा। तब भी वह अदृश्य रूप में सदैव उसके साथ रहकर, दुख की अवधि समाप्त होने तक, उसकी सँभाल करता है। वह ठीक वैसे ही कार्य करता है, जैसे एक कुम्हार बर्तन को सही रूप देने के लिए बाहर से चोट करता है, परन्तु एक हाथ उसके अन्दर रखकर उसे टूटने से भी बचाता है। गुरु का प्यार अथाह होता है। दरवेशों की सल्तनत दयामेहर की होती है।

जेल के सुपरिंटेन्डैंट का कर्त्तव्य क़ैदियों को जेल में रखना, उन्हें दंड देना और उनका सुधार करना है। इसी प्रकार, देवी–देवताओं और अवतारों का काम अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ–सिद्धियाँ बाँटकर, मनुष्य को अपने साथ बाँधकर रखना

है (इनमें सभी प्रकार के उपहार, धन, सांसारिक सुख–सुविधायें और अच्छे–बुरे कार्यों के लिए दैवी–शक्तियों के वरदान शामिल हैं)। विभिन्न देवी–देवता अपने भक्तों को वही सीमित मुक्ति अथवा सुख दे सकते हैं, जो उन्होंने स्वयं प्राप्त की है और उन्हीं मंडलों में प्रवेश दिला सकते हैं, जहाँ तक वे स्वयं पहुँचे हैं। वे परमात्मा से मिलने में कोई सहायता नहीं कर सकते, क्योंकि ये निम्न शक्तियाँ स्वयं ही इस सर्वोच्च सौभाग्य से वंचित हैं।

ऋद्धियाँ–सिद्धियाँ वे यौगिक शक्तियाँ हैं, जो सत्य के अभिलाषी को थोड़ी–सी साधना करने पर मिल जाती हैं, लेकिन वास्तव में ये सब प्रभु–प्राप्ति के मार्ग में रुकावटें हैं। मनुष्य सामान्यतः ऐसे चमत्कारों के आकर्षण में फँस जाता है, जैसे किसी के मन की बात जानना, भविष्य बताना, पार–दृष्टि, परकाया–प्रवेश, कामनाओं की पूर्ति, मन की शक्ति से उपचार करना, सम्मोहन–शक्ति, चुम्बकीय प्रभाव इत्यादि। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की बताई जाती हैं :

अणिमा : दूसरों की दृष्टि से ओझल हो जाना।
महिमा : शरीर को इच्छानुसार बड़ा कर लेना।
गरिमा : शरीर को इच्छानुसार भारी कर लेना।
लघिमा : शरीर को इच्छानुसार हल्का कर लेना।
प्राप्ति : इच्छा मात्र से कोई भी वस्तु प्राप्त करना।
ईशित्व : स्वयं के लिए सारा यश प्राप्त करना।
प्राकाम्यं : दूसरों की इच्छाओं को पूरा करना।
वशित्व : दूसरों को अपने प्रभाव और वश में लाना।

इसके विपरीत, सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त एक अनुभवी महात्मा क्षमा और मुक्ति प्रदान करता है। उसका कार्य मनुष्य को जीते–जी प्रभु के राज्य में प्रवेश दिलाना होता है, बशर्ते कि व्यक्ति एकचित्त* होकर स्वयं को पूरी तरह उसके हवाले कर दे और बड़े प्यार और श्रद्धा से उसकी आज्ञा का पालन करे। जो लोग मन के गुलाम हैं, उनके लिए यह काम थोड़ा मुश्किल है। संस्कारहीन और अनियंत्रित मन की चंचल वृत्ति के कारण, कभी तो हमें विश्वास हो जाता है और कभी हमारा मन डोल जाता है। मौलाना रूम जैसे संतों ने यहाँ तक कहा है :

---

* व्याख्या के लिए परिशिष्ट–II देखें।

चंद दीद अज़ मन गोनाहो जुर्महा,
व-अज़ करम याज़दां न-मे-गीर-अद म-रा।

(अर्थात बार–बार मुर्शिद के पास जाओ, चाहे तुमने अपनी कसम हज़ार बार तोड़ी हो, क्योंकि मुर्शिद की नज़रे–करम में तुम्हें हमेशा जगह मिलेगी।)

परीक्षा की घड़ी में या मुसीबत के समय तुम चाहे गुरु को छोड़ दो और रास्ते से भटक जाओ, लेकिन एक बार उसका बन जाने पर वह तुम्हें कभी नहीं छोड़ेगा। मसीह में निहित गुरु–सत्ता ने यह घोषणा की थी :

मैं तुम्हें कभी नहीं छोड़ूँगा, न ही कभी तुम्हारा त्याग करूँगा।

– पवित्र बाइबिल (इब्रनियों 13:5)

यदि कोई शिष्य गुरु के प्यार को ठुकरा देता है, तो उसे आत्म–नियंत्रण में अधिक समय लगेगा, लेकिन तब भी गुरु का "प्यार और दया का क़ानून" सदा शिष्य की सँभाल करता है। सदा के सुख और यश का स्त्रोत इस शरीर के परे, मनुष्य के अन्तर में स्थित है। जिन्हें आंतरिक शांति की तलाश है, उन्हें अपने आपे– मन और आत्मा को सही ख़ुराक देनी चाहिए। 'नाम' और 'शब्द' में ही सच्चा सुख है, शांति व मुक्ति का दाता वही है। 'मुक्ति' से तात्पर्य "पापों से छुटकारा" मात्र नहीं है, बल्कि स्वयं को जन्म–मरण के चक्र से आज़ाद करना व प्रभु में अभेद होकर शाश्वत जीवन को पाना है।

आम आदमी मुक्ति की बात को एक मज़ाक समझता है। विभिन्न सम्प्रदायों में भी यही हो रहा है। विभिन्न धर्मों के संस्थापकों ने आंतरिक मंडलों में अपनी–अपनी रसाई के अनुभव को ही सब कुछ मानकर, उसे ही अंतिम मुक्ति या अमर–जीवन कह दिया है। सच्चा संत–सत्गुरु तो सभी मंडलों में आता–जाता है और कभी–कभी दृष्टांतों द्वारा वह अपने वास्तविक स्वरूप के बारे में कुछ इशारा भी कर देता है। वह स्पष्ट शब्दों में कहता है :

मैं दुनिया की रोशनी हूँ, जो मेरे पीछे चलेगा, वह अंधकार में न जाकर, जीवन-ज्योति को पा जाएगा।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 8:12)

संत तो हमेशा की मुक्ति जीते–जी देते हैं, न कि मरने के बाद, क्योंकि कौन जाने कि मौत के बाद क्या होगा? अंत में, क्या पता कि 'मौत के बाद मुक्ति' की बात भुलावा ही साबित हो। इसलिए निरंतर, संशय की अवस्था में अपना जीवन बिताना कहाँ की अक़्लमंदी है? मुक्ति अगर मौत के बाद ही मिलती है, तो यह व्यक्ति की महज़ कल्पना है। सच्चा संत तो जन्म–मरण के बंधन से आत्मा को यहीं और तुरन्त आज़ाद कर देता है। वह 'जीते–जी मरने' अर्थात इसी जीवन में मुक्ति पर विश्वास करता है, जिसे 'जीवन–मुक्ति' कहा जाता है। तब यह आत्मा शरीर में रहते हुए भी, अकथनीय प्रभु से मिल सकती है और अंत में, दिव्य–सूत्र (Silver Cord) के टूट जाने पर यह हमेशा के लिए परम तत्त्व में विलीन हो सकती है।

प्रायः यही समझा जाता है कि भौतिक मृत्यु के बाद मुक्ति हो जाती है। आम धारणा के विपरीत, 'मृत्यु' का अर्थ केवल पंच–भौतिक तत्त्वों से जुदा होना या उनका विघटन व नाश होना ही नहीं है, बल्कि इसमें संकल्प शक्ति द्वारा आत्म–शक्ति को अस्थाई तौर पर समेटना भी शामिल है। यह सोचना कोरी मूर्खता है कि सारी ज़िंदगी संसार का चिंतन करने वाला व्यक्ति मर कर तत्काल मुक्ति प्राप्त कर लेगा। परन्तु नेक–पाक जीवन बिताने वाला प्रभु–भक्त, अपने जीवन में ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार वह मानव के अंतिम शत्रु–मृत्यु को जीते–जी जीत लेता है।

यह मैं हूँ, नहीं यह मैं नहीं, बल्कि मसीह मुझमें रहता है।

– पवित्र बाइबिल (गलातियों 2:20)

ये सेंट पॉल के वचन हैं। मेरे गुरुदेव (हुज़ूर बाबा सावन सिंह जी महाराज) कहा करते थे, "जो जीते–जी पंडित है, वह मर कर भी पंडित रहेगा।"

कर्मों को समाप्त करना और आत्मा को सब बंधनों से मुक्त करना किसी नेता, राजनेता, राजनयिक, मंत्री या सरकार के वश की बात नहीं। यहाँ तक कि अवतार भी इसमें असमर्थ हैं। परम पिता परमेश्वर की छोटी–छोटी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले इन देवी–देवताओं को भी अपनी मुक्ति के लिए मनुष्य योनि का इंतज़ार करना पड़ता है।

वे आत्माएँ, जो किसी सच्चे महात्मा या संत–सत्गुरु की शरण में नहीं आईं, अभी भी संचित, क्रियमान और प्रारब्ध कर्मों के भारी बोझ को ढो रही हैं। जहाँ तक भाग्य या प्रारब्ध का सवाल है, परा–विद्या में दीक्षित न होने वालों को

इससे कोई छूट नहीं मिलती क्योंकि उन्हें अपने कर्मों के पूर्ण वेग या तीव्रता को, बिना किसी मदद के सहन करना पड़ता है और क्रियमान कर्मों, जिन्हें मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में मन के वशीभूत होकर करता है, का पूरा फल हर हाल में भुगतना पड़ता है। यह एक बेहद कठोर और अमिट नियम है, चाहे आप इसे मानें या न मानें। कर्म के नियम का कोई अपवाद नहीं है। यह बिना रुके, समय की चक्की में सबको एक–समान पीस रहा है। गुरु नानक कहते हैं :

चंगिआईआ बुरिआईआ वाचै धरमु हदूरि।।
करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि।।
जिनी नामु धिआइआ गए मसकति घालि।।
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि।।

– आदि ग्रंथ (जप जी अन्तिम, पृ॰८)

इस प्रकार, यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि हम किसी ऐसे गुरु की खोज करें, जो कर्मों के अंतहीन चक्र को समाप्त करने में समर्थ हो और उसके चरण–कमलों में रहकर, हम कर्मों के मायावी प्रभाव से स्वयं को मुक्त कर लें।

परिशिष्ट - 1 (क)

आचार या सदाचारी जीवन

हमारे मन और शरीर पर हमारे सांसारिक रहन–सहन का बहुत असर पड़ता है। इसलिए, यह निहायत ज़रूरी है कि हम सादग़ी और सच्चाई से जीना सीखें। सच्चे जीवन पर बाक़ी सब चीज़ें निर्भर करती हैं, जिसमें आत्मा और परमात्मा का ज्ञान भी शामिल है। सच्चे जीवन के महत्त्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता। ठीक ही कहा है :

सचहु ओरै सभु को उपरि सचु आचारु।।

– आदि ग्रंथ (सिरीराग म॰1, पृ॰62)

"सादा जीवन, उच्च विचार," यही हमारे पूर्वजों का आदर्श रहा है और उन्होंने सदा इसे अपनाने की कोशिश की। लेकिन हमने इस तरफ़ विशेष ध्यान नहीं दिया और इसे अपने जीवन में धारण नहीं किया, हालाँकि हम स्वयं दूसरों को इसका उपदेश देते रहते हैं। यद्यपि जीवन के इस उच्च आदर्श को पाना कठिन मालूम होता है, परन्तु हमें यह समझना चाहिए कि आख़िर यह आदर्श क्या है और वे कौन से तरीक़े हैं, जिन्हें अपनाकर हम इसे प्राप्त कर सकते हैं। कोई भी कार्य करने से पूर्व हम अपने सामने एक लक्ष्य रखते हैं, उसके नियम–क़ायदे और उसे प्राप्त करने के साधनों को समझते हैं, और फिर समय–समय पर इस बात की पड़ताल भी करते हैं कि हम अपने लक्ष्य के कितना क़रीब पहुँचे हैं। निःसंदेह इसके लिए व्यक्ति को एकचित्त होकर, सच्चे मन से रोज़ाना प्रयत्न करना होगा, तभी उसे स्वयं में और अपने आस–पास, दूसरों में कुछ सुधार दिखाई पड़ेगा।

अब स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि मनुष्य का जीवन किस प्रकार बनता है? जीवन में बहुत–सा अनुभव प्राप्त करने के बाद और संसार में सब कुछ देखने–भोगने के बाद, जब मनुष्य विरक्त हो जाता है, तब वह आत्म–निरीक्षण की तरफ़ मुड़ता है। क्या हमारा जीवन केवल खाने–

पीने, सोने और सन्तानोत्पत्ति मात्र के लिए है? क्या डरना–कुढ़ना और लड़ना, छीना–झपटी, जमाख़ोरी और घृणा, मानसिक और शारीरिक रूप से अपने से हीन मनुष्यों को ग़ुलाम बनाना या फिर हत्या करना और दूसरों का हक़ मारना ही हमारा जीवन है? क्या हमें अपना समय ग़लत तरीक़े से एकत्रित सांसारिक पदार्थों को भोगते हुए ही बिता देना चाहिए, जबकि अंत में हमें कुछ भी हासिल नहीं होता है, बल्कि हम दारुण कष्ट सहते हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं? इस प्रकार न सिर्फ़ हम स्वयं दुखी होते हैं, बल्कि अपने प्रियजनों को भी असहाय, दुख कातर और रोते–बिलखते छोड़ जाते हैं। ज़मीन, मकान, धन, पशु और अनगिनत दूसरी संपत्तियाँ, ये सभी सांसारिक पदार्थ हमें मृत्यु के बाद न चाहते हुए भी छोड़ने पड़ते हैं। इन कड़वी सच्चाइयों को देखकर भी क्या सांसारिक पदार्थों को इकट्ठा करना ही हमारे जीवन का एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए या हमें किसी ऐसी वस्तु की प्राप्ति के लिए मेहनत करनी चाहिए, जो हमेशा रहने वाली हो और यहाँ भी तथा इस जीवन के बाद भी हमारे साथ रह सके? इसका उत्तर बहुत सरल है– जन्म–मृत्यु और कर्मों के भयानक चक्र से मुक्ति पाना ही हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और यही सच्चा परमार्थ है।

यह महान उद्देश्य, जिसका ऊपर वर्णन आया है, केवल बातें करने या सोचने से प्राप्त नहीं होगा। इसके लिए सर्वप्रथम हमें किसी ऐसे महापुरुष को खोजना होगा, जिसने स्वयं प्रभु को पाया हो और जो इस ऊँचे आदर्श को प्राप्त करने में व्यावहारिक रूप से हमारी सहायता और मार्गदर्शन कर सके। जिस प्रकार ज्योति से ज्योति प्रज्ज्वलित होती है, उसी प्रकार जीवन से जीवन प्राप्त होता है। ऐसा महापुरुष हमें हमारे निजधाम, अदन के बाग़, जिससे हम दूर हो चुके हैं, की याद दिलाता है। वह हमें हमारे दैनिक जीवन की कमज़ोरियों का अहसास कराता है और अंत में, बनावटी और उद्देश्यहीन जीवन के स्थान पर, वास्तविक सच्चाई से पूर्ण, एक अति सक्रिय ज़िंदगी बिताने में हमारी मदद करता है।

यह संसार धुएँ और कालिख से भरी एक कोठरी के समान है, जहाँ भरसक बुद्धिमानी या कोशिश करने पर भी, कहीं न कहीं दाग़ लग ही जाता है। बिना किसी जानकारी अथवा सहायता के, स्वयं के प्रयासों द्वारा इन छोटे–बड़े असंख्य दाग़–धब्बों का छूटना बहुत मुश्किल है, क्योंकि ये हमारे जीवन का अंग बन चुके हैं। मनुष्य के ऊपर यदि किसी संत–सत्गुरु का मेहर–भरा हाथ न हो, तो जीवन के मंच पर मनुष्य अपनी भूमिका, अपने स्वभाव के वशीभूत होकर

अदा करता है और उन व्यर्थ के कार्यों में सम्मिलित होता रहता है, जो उसे कहीं नहीं ले जाते। ऐसा मसीहा कोई संत ही हो सकता है, जिसे हम गुरु, अध्यापक, सत्गुरु, मुर्शिद–ए–क़ामिल, हादी, दोस्त, भाई, बुज़ुर्ग या किसी भी दूसरे नाम से पुकार सकते हैं।

और अधिक विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि मनुष्य का जीवन मुख्यतः दो चीज़ों पर निर्भर है– आहार और आचार। मनुष्य इन दोनों क्षेत्रों में या तो परम्परा के आधार पर या पुस्तकों और सुनी–सुनाई बातों के सीमित ज्ञान के आधार पर कार्य करता है। इसी आधार पर मनुष्य की संस्कृति व सभ्यता का निर्माण होता है, जो उसके अभिन्न अंग बन कर उसकी मन और बुद्धि पर छा जाते हैं।

शायद ही कोई ऐसी सरल आचार संहिता हो, जिससे मनुष्य को अपने भौतिक, मानसिक और आत्मिक जीवन को बाक़ायदगी से जीने के लिए कोई मार्गदर्शन प्राप्त हो सके। इस अस्पष्ट स्थिति से निकलने के लिए मनुष्य को इस विषय का गहराई से अध्ययन करना होगा। भौतिक, मानसिक और आत्मिक–जीवन के इन तीनों पहलुओं को इच्छानुसार ढ़ालने के लिए गहन विश्लेषण की ज़रूरत है।

परिशिष्ट - 1 (ख)

आहार

प्राकृतिक तौर से जीवन में आहार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने भौतिक अस्तित्व को बनाये रखने के लिए हमें भोजन की आवश्यकता होती है। हम तब तक इस संसार में रहने के लिए बाध्य हैं, जब तक भाग्य या कर्मों द्वारा प्राप्त इस जीवन को हम यहाँ पूरा नहीं बिता लेते। जीवित रहने के लिए हमें किसी एक या दूसरी वस्तु पर निर्भर रहना पड़ता है। मनुष्य इस मामले में पूरी तरह लाचार है। संसार को अपने अदृश्य बंधन में रखने और इसे जीवों से बसाये रखने के लिए कर्म–विधान प्रकृति का एक अदृश्य साधन है। इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि लापरवाह और विवेकशून्य होकर, खान–पान की ग़लत आदतें डालने के प्रति मनुष्य सचेत रहे। चूँकि हम भोजन के बिना नहीं रह सकते, हमें इसके लिए उन्हीं चीज़ों को लेना चाहिए, जो हमारी आत्मिक उन्नति में कम से कम बाधक हों। ऐसा न हो कि हमारा भोजन कर्मों के ऐसे अवांछित बोझ का कारण बन जाए, जिससे थोड़ी–सी सावधानी द्वारा बचा जा सकता हो। इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर, आइये अब ज़रा प्रकृति का अध्ययन करें।

मनुष्य का भोजन मुख्यतः धरती से उत्पन्न होता है, जिसमें ज़मीन, हवा और पानी– तीनों शामिल हैं। हमें यह भी मालूम है कि गतिशील और स्थिर जीव, सभी में जीवन है। गतिशील प्राणी जीवित रहने के लिए एक–दूसरे के जीवन पर और वनस्पति जगत पर निर्भर रहते हैं, जिसमें पेड़–पौधे, फल–सब्ज़ियाँ, जड़ी–बूटियाँ इत्यादि सम्मिलित हैं। प्रकृति के साथ–साथ जीते हुए, मनुष्य पशु–पक्षियों आदि प्राणियों को अपना मित्र बनाकर, उनसे प्रेम करता है और उन्हें पालतू बना लेता है। हमारे पुरखे इस बात से भली–भाँति परिचित थे कि पशु–पक्षी और इंसान, सभी कर्मचक्र में एक जैसे बँधे हुए हैं। तब मनुष्य भ्रातृभाव से, अपने लिए और पालतू प्राणियों की भलाई के लिए कड़ी मेहनत करता था। वह अपने पक्षी–मित्रों, गाय–बैलों और स्वयं के लिए ज़मीन जोतकर अन्न पैदा करता था।

परन्तु समय बीतने के साथ वह सुविधाप्रिय बन गया, जिसके फलस्वरूप, पहले तो मनुष्य ने पशुओं से उनका दूध छीना और फिर उनके माँस पर अधिकार जमा लिया।

नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक नियमों के अनुसार, इंसान को प्रभु की सृष्टि में किसी भी प्राणी के जीवन में खलल डालने का कोई अधिकार नहीं है। भारत में किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाने के इस आदर्श को 'अहिंसा' कहा जाता है। इसी आदर्श को ध्यान में रखते हुए माँसाहार के स्थान पर शाकाहार को मनुष्य के जीवन में स्थान दिया गया है। भोजन के प्राकृतिक और अप्राकृतिक स्वरूपों के विषय में गहराई से सोचने पर, सभी जीवों के गुणों, उनकी जन्मजात प्रवृत्तियों, अभिरुचियों और सुप्त संस्कारों को भली–भाँति समझने में मदद मिलती है।

आहार को विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है– जैसे अनाज, दालें, सब्ज़ियाँ और फल। ऐसे सात्विक आहार से वह शांति और तन्मयता प्राप्त होती है, जिससे संत–महात्माओं के मुख–मंडल शोभायमान होते हैं। वनों में रहकर तप करने वाले साधु और तपस्वी हमेशा कंद–मूल और फल खाकर गुज़ारा करते थे– 'कंद' अर्थात ज़मीन में पैदा होने वाले मीठे आलू, ज़िमीकंद, शकरकंद इत्यादि। 'मूल' अर्थात गाजर, मूली, चुक़न्दर, शलगम इत्यादि। इनसे उन्हें पर्याप्त विटामिन और लवण प्राप्त हो जाते थे और उनका स्वास्थ्य, ध्यान और एकाग्रता के लिए हमेशा अनुकूल रहता था। कई प्रकार का भोजन तो प्राकृतिक रूप से प्रचुर मात्रा में उगता था, जबकि कुछ को पैदा करने के लिए थोड़ी मेहनत करनी पड़ती थी। दालें और अनाज साधारण मनुष्यों का आहार था।

सात्विक भोजन या'नी कंद–मूल, फल और गाय के दूध से युक्त आहार, लंबी आयु प्रदान करने के साथ–साथ कई तरह के रोगों से मुक्ति भी दिलाता है। चिकित्सा शास्त्री भी अब ऐसे आहार के महत्त्व को मानते हैं। आजकल जड़ी–बूटियों, फलों और अनाजों से अनेक दवाएँ बनाई जा रही हैं। आरोग्य प्राप्त करने के विभिन्न प्राकृतिक साधनों– जैसे धूप–स्नान, मिट्टी–चिकित्सा, जल–चिकित्सा, मालिश और प्राकृतिक–चिकित्सा इत्यादि के भी अद्‌भुत परिणाम सामने आ रहे हैं। सात्विक आहार और सादा जीवन, सभ्यता एवं संस्कृति के उच्च विकास में सहायक होते हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य भोजन के लिए नहीं, बल्कि भोजन मनुष्य के लिए है। "जीवित रहने के लिए खाना, न कि खाने के

लिए जीना," यही हमारे जीवन का सिद्धांत होना चाहिए। इस नियम पर चलने से हम उच्च नैतिक और आत्मिक निधियों को ग्रहण करने के योग्य बनते हैं, जिनसे धीरे–धीरे हमें आत्मा और परमात्मा का ज्ञान हो जाता है।

राजसिक या शक्तिदायक आहार में शाकाहारी भोजन के साथ–साथ, गाय के अतिरिक्त अन्य पशुओं से प्राप्त दूध, घी, मक्खन इत्यादि शामिल हैं, बशर्ते इन्हें अल्प मात्रा में लिया जाए। प्राचीन भारत में दूध का उपयोग केवल राजकुल के व्यक्तियों तक सीमित था, क्योंकि असभ्य और बर्बर लोगों को वश में रखने के लिए राजकुमारों को अधिक शारीरिक बल की ज़रूरत थी। गायों का दूध दुहने की आज्ञा तभी थी, जब प्रसव के बाद उनकी पूरी देखभाल की जाए और बछड़ों के पालन–पोषण के लिए पर्याप्त दूध उनके थनों में छोड़ दिया जाए। इस प्रकार प्राप्त दूध को भी विशेष परिस्थितियों में ही लेने की आज्ञा थी। ऐसा नियम प्राचीन सभ्यता को पतन से बचाने के लिए बनाया गया था। प्राचीन समय में, एकांत में रहकर अपना अधिकांश समय ध्यान और ईश्वर आराधना में व्यतीत करने वाले ऋषि–मुनि भी दूध का प्रयोग केवल अल्प–मात्रा में करते थे और बहुत–सा दूध पशुओं की संतानों के पोषण हेतु थनों में छोड़ दिया करते थे।

इस तरह बचे हुए दूध को ही उपयोग में लाने की प्रथा भारत के कुछ गाँवों में अब भी प्रचलित है। परन्तु बे–लगाम शक्ति पाने की भूख और कथित स्वतंत्रता की आड़ में आज का मानव, प्रकृति के सभी नियमों का उल्लंघन कर रहा है। दुर्भाग्यवश मनुष्य यह मानने लगा है कि सबसे ताक़तवर को ही जीने का अधिकार है, लेकिन इस ग़लत धारणा के लिए उसे भारी क़ीमत चुकानी पड़ सकती है।

आज मनुष्य केवल यही सोचता है कि किस तरह अधिक से अधिक दूध प्राप्त किया जाए, चाहे इसके लिए बछड़ों का जीवन ही क्यों न ख़त्म करना पड़े। कई स्थानों पर उन्हें जन्म के तुरन्त बाद खौलते पानी में फेंक दिया जाता है। वह मशीनों द्वारा पशुओं के थनों से दूध की आख़िरी बूँद तक निचोड़ लेना चाहता है, ताकि व्यापार और मुनाफा कमाने की होड़ में वह कहीं पीछे न छूट जाए। कुछ लोग गर्व से इसे तकनीकी उन्नति और आधुनिक सभ्यता कहते हैं। आजकल के उदयमान सुधारक इस तरह के विनाशकारी धंधों को मनुष्य पर थोप रहे हैं, जबकि कृषि और पशु पालन में सुधार के कई अन्य तरीक़े हानिरहित हैं और बढ़ती हुई माँग की पूर्ति में मददगार हो सकते हैं।

तामसिक या'नी बुद्धि का नाश करने वाले आहार में माँस, शराब, लहसुन तथा अन्य भोजन पदार्थ आते हैं— वे चाहे प्राकृतिक हों या अप्राकृतिक, ताज़ा हों या बासी। जो लोग संयम न रखकर मनचाहा खाने के आदी हैं, वे जीने के लिए न खाकर, खाने के लिए जीते हैं। उनके जीवन का उद्देश्य सुख भोगना है और वे, "खाओ–पीओ और मौज करो" की नीति में विश्वास करते हैं। वे उन विषय–भोगों में डूबे रहते हैं, जिन्हें वे जीवन का मधुर सुख कहते हैं। यदि उन्हें एकाग्रता की थोड़ी–सी बरक़त मिल जाती है, तो वे अहंकार में आकर अपनी संपूर्ण मानसिक और शारीरिक शक्ति अपने तुच्छ अहम् की प्रशंसा में लगा देते हैं। जो लोग आत्मा को जानकर, मन–बुद्धि के बंधन से हमेशा के लिए आज़ाद होना चाहते हैं, उन्हें संत–सत्गुरु इस प्रकार के जीवन से परहेज़ करने को कहते हैं।

क्या कोई समझदार व्यक्ति थोड़ा रुककर मनुष्य की इस हालत पर विचार करेगा? क्यों वह अपने आपको सब प्राणियों से श्रेष्ठ और सृष्टि का सरताज कहने या कहलाये जाने में गर्व महसूस करता है? मनुष्य अंधाधुंध कहाँ जा रहा है? क्या वह तीखी ढलान वाली एक चट्टान पर नहीं खड़ा है, जहाँ से वह किसी भी क्षण नीचे लुढ़क सकता है? अपने अविवेकपूर्ण आचरण के कारण, उसे प्रकृति के प्रकोप को सहना पड़ता है। हर घड़ी उसे शारीरिक और नैतिक पतन की अतल गहराई में गिरने का ख़तरा बना रहता है।

मनुष्य ने अपने भोजन का पाठ, जंगल के हिंसक जानवरों से सीखा है और वह उन्हीं की तरह व्यवहार करता है। वह न केवल भेड़, बकरी, मछली और परिन्दों जैसे निरीह प्राणियों का माँस खाने में सुख अनुभव करता है, बल्कि दौलत के लिए अपनी कभी न मिटने वाली भूख को शांत करने के लिए वह इंसान का रक्त और माँस भी नहीं छोड़ता। उसकी आत्म–प्रशंसा करने की प्रक्रिया अभी ख़त्म नहीं हुई है, जिसे वह गर्व से 'तरक़्क़ी' कहता है। मनुष्य की भलाई इसी में है कि वह उन मूलभूत सिद्धांतों पर ग़ौर करे, जिनके अनुसार संत शाकाहारी भोजन अपनाने की सलाह देते हैं। शाक–सब्ज़ियों में भी अप्रकट रूप में जीवन होता है और विश्व के वैज्ञानिकों ने भी अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है। पर संसार के रंगमंच पर, इस जीवन रूपी नाटक में हमें अपनी भूमिका निभानी है, इसलिए अपने स्वास्थ्य के लिए और अपने शरीर व आत्मा को एक साथ रखने के लिए हमें धरती की उपज पर निर्भर रहना ही पड़ेगा।

निःसंदेह शाक–सब्ज़ियों, फलों और अनाज में जीवन है। जीवन का मूल गुण बढ़ना और नष्ट होना है। इस तथ्य की सच्चाई को प्राचीन समय में भी माना जाता था। यह कोई नई बात नहीं है, यद्यपि कुछ वैज्ञानिकों ने पुनः प्रमाणित करके इसे स्वयं की खोज बताया है।

आइए, अब हम मुख्य बात पर आते हैं। संपूर्ण सृष्टि में प्रकृति का यही नियम है कि जीवन, जीवन पर निर्भर है। दूसरे प्राणियों की भाँति, मनुष्य भी किसी जीवित पदार्थ को खाकर ही जीवित रहता है। बाहर से तो यही लगता है कि कर्म एकत्र करने के मामले में इंसान भी निम्न वर्ग के अन्य प्राणियों, पशुओं, सर्प इत्यादि के साथ एक ही क़िश्ती में सवार है।

प्रकृति के हाथ में एक और विशाल चक्र, जो इस संसार में कार्य करता है, "विकास का नियम" ('Law of Evolution') है। इसके अनुसार सभी जीव पहली अवस्था से अगली अवस्था की ओर चलते हैं। सृष्टि के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर की अपनी यात्रा में, हर जीव अपने से निचले जीव से अलग महत्त्व रखता है। जीवों के बाहरी और आंतरिक मूल्य का निर्धारण, उनमें मौजूद जड़ता (matter) और बुद्धि के आधार पर होता है। जीव में मौजूद प्रधान तत्त्व या'नी जड़ अवयव जितने अधिक मूल्यवान होंगे, उसमें बुद्धि की मात्रा उतनी अधिक होगी और उसका जीवन उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा। मनुष्य के आहार की समस्या को सुलझाने के लिए संत इस नियम का प्रयोग करते हैं। मनुष्य चाहे इस तरफ़ ध्यान दे या न दे, परन्तु संत इस नियम को मनुष्य के समक्ष रखते हैं, ताकि वह अपने लिए सही आहार का चुनाव कर सके और जितना बन पड़े, कर्मों की ज़ंजीर से, जिसमें वह बुरी तरह जकड़ा हुआ है, बच सके।

हर तरह के आहार का मनुष्य पर अलग–अलग असर पड़ता है, जो आत्मा और परमात्मा को जानने के उच्चतम आदर्श की प्राप्ति में सहायक या बाधक सिद्ध होता है। यदि मनुष्य आगे लिखी गई बातों को अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में रखकर देखे, तो उसे यह जान कर आश्चर्य होगा कि वह जो कुछ सामाजिक मान्यता के अनुसार करता है, वह सब पूरी तरह प्रकृति के इस नियम के अधीन होता है, जिसका यहाँ वर्णन किया गया है।

मनुष्य का शरीर, जिसमें पाँचों तत्त्व, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश प्रबल होते हैं, सबसे उत्तम माना गया है। इसी कारण वह सृष्टि के बाक़ी सब जीवों से श्रेष्ठ है और सिरजनहार, प्रभु के बाद उसी का

स्थान है। मनुष्य द्वारा अपने साथी मनुष्यों की हत्या करना सबसे जघण्य अपराध है जिसकी सज़ा है– फाँसी या मृत्यु दंड। उससे निचला स्थान चौपायों या पशुओं का है, जिनमें चार तत्त्व प्रबल होते हैं और पाँचवाँ, आकाश तत्त्व या तो होता ही नहीं या ना के बराबर होता है। इसलिए अकारण किसी के पशु की हत्या करने का जुर्माना, उस पशु की क़ीमत के रूप में चुकाना पड़ता है।

इसके बाद आते हैं पक्षी, जिनमें जल, अग्नि और वायु, ये तीन तत्त्व प्रधान होते हैं और इनका मूल्य कम होता है। उन प्राणियों की क़ीमत और भी कम आँकी गई है, जिनमें पृथ्वी और अग्नि तत्त्व प्रबल हैं और बाक़ी तीन तत्त्व निष्क्रिय या सुप्त होते हैं, जैसे रेंगने वाले जंतु, सर्प, कीड़े–मकोड़े आदि। ऐसे प्राणी, बिना किसी पश्चाताप के, कुचल दिए जाते हैं क्योंकि इनकी कोई क़ीमत नहीं चुकानी पड़ती। कंद मूल, सब्ज़ियों और फलों का स्थान सबसे नीचे है, क्योंकि इनमें जल तत्त्व मुख्य होता है और दूसरे तत्त्व सुप्त रहते हैं। इस प्रकार, कर्मों के दृष्टिकोण से शाकाहार या फलाहार, वास्तव में न्यूनतम कष्ट पहुँचाकर प्राप्त होने वाला भोजन है और इसे अपना कर मनुष्य न्यूनतम कर्म–भार एकत्र करता है। अतः मनुष्य को इस प्रकार का भोजन तब तक लेना चाहिए, जब तक वह इसका त्याग न कर सके और कोई ऐसा तरीक़ा न अपना ले, जिसकी उसे कुछ भी क़ीमत न चुकानी हो।

आइए, अब देखते हैं कि सेंट जॉन एसीन (Essene) सुसमाचारों में इस विषय पर क्या कहते हैं :

> शिष्यों ने पूछा, "गुरुदेव! हम आपके सिवा और कहाँ जाएँ क्योंकि आप ही के पास अमर जीवन का ज्ञान है? आप हमें बतायें कि हमें कौन से पापों से बचना चाहिए, ताकि हमें कभी दुख न देखना पड़े?" ईशू ने उत्तर दिया, "यह तुम्हारे विश्वास, तुम्हारी अंतरात्मा के अनुसार हो।"
>
> **- XX**

> और उन सब के बीच बैठते हुए यह कहा : "बहुत समय पूर्व लोगों से यह कहा गया था कि अपने रूहानी पिता और सांसारिक माता का आदर करो और उनका कहना मानो, ताकि तुम पृथ्वी पर दीर्घ आयु तक जी सको।" उसके बाद यह आज्ञा दी, "तुम हत्या मत करना, क्योंकि यह जीवन

प्रभु की देन है और जो चीज़ प्रभु की दी हुई है, उसे छीनने का हक़ इंसान को नहीं है। मैं तुमसे सच कहता हूँ कि धरती पर रहने वाले सब जीव एक ही माँ-प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। इसलिए जो हत्या करता है, वह अपने भाई को मारता है। तब प्रकृति माता उससे विमुख होकर, उसे अपने ममतामयी आँचल से अलग कर देती है। तब उसके देवदूत उसे दूर ले जाते हैं, जहाँ उसके शरीर में शैतान का वास हो जाता है और मारे गए पशुओं का माँस उसकी स्वयं की क़ब्र बन जाता है। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि हत्या करने वाला, स्वयं अपनी हत्या करता है और जो कोई इस प्रकार मारे गए जानवरों का माँस खाता है, वह मौत का ग्रास बनता है... और उनकी मौत, उसकी अपनी मौत बन जाएगी क्योंकि पाप का दंड मृत्यु है।"

"हत्या मत करो, न ही निर्दोष जानवरों का माँस खाओ। कहीं ऐसा न हो कि तुम शैतान के ग़ुलाम बन जाओ। यह रास्ता दुख और पीड़ाओं से पूर्ण है और मौत की ओर ले जाने वाला है। इसके बजाय, प्रभु की इच्छा पूरी करो, ताकि उसके बंदे तुम्हें अमर जीवन के रास्ते पर लगा दें। इसलिए परमेश्वर का हुक़्म मानोः 'देखो, मैंने तुम्हें बीज से युक्त हर प्रकार की शाक-सब्ज़ियाँ दीं जो समस्त धरती पर प्रचुर मात्रा में पैदा होती हैं और पेड़ दिए जिनके प्रत्येक फल में उस पेड़ का बीज विद्यमान है, यही सब तुम्हारा आहार होगा। धरती के प्रत्येक पशु, आकाश के हर परिन्दे, रेंगने वाले हर जीव-जंतु, जिसमें भी जीवन की साँस है, के भोजन के लिए मैंने हर तरह की वनस्पति उगा कर दी है।' एक-दूसरे पर निर्भर रहने वाले हर गतिशील प्राणी का दूध भी तुम्हारा आहार होगा। वैसे ही जैसे मैंने उन्हें हरी पत्तियाँ दी हैं, मैं तुम्हें उनका दूध देता हूँ। परन्तु माँस और रक्त, जिनसे वे जीवित रहते हैं, तुम नहीं खाओगे....।"

- XXII

तब दूसरे शिष्य ने कहा, "हज़रत मूसा, जो कि इज़राइल में सबसे महान थे, ने हमारे पूर्वजों से स्वच्छ पशुओं का माँस खाने और मलिन जानवरों के माँस से दूर रहने को कहा था। फिर आप क्यों सभी जानवरों का माँस खाने की मनाही करते हैं। कौन-सा नियम परमात्मा का है— आपका या मूसा का?"

- XXIII

.... तब ईशु ने कहा, "प्रभु ने तुम्हारे पूर्वजों को आज्ञा दी 'तुम हत्या नहीं करोगे।' परन्तु उनका हृदय कठोर था और उन्होंने हत्याएँ कीं। तब मूसा ने चाहा कि वे कम से कम इंसान को तो न मारें और इसलिए उनका पशुओं को मारना उसने सह लिया। लेकिन तुम्हारे पूर्वजों के हृदय और भी कठोर बन गए और उन्होंने जानवरों और मनुष्यों की एक समान हत्या की। परन्तु मैं तुमसे यही कहता हूँ कि तुम न तो इंसान को मारो और न जानवरों को। तुम मृत जीवों को भी अपना आहार न बनाओ क्योंकि ऐसा आहार ग्रहण करने से तुम भी मृत हो जाओगे। लेकिन अगर तुम सजीव वनस्पति आहार में लेते हो, तो उससे तुम्हें जीवन-शक्ति प्राप्त होगी। जीवन, केवल जीवन से आता है और मौत हमेशा मौत से। तुम्हारे आहार को मारने वाली हर चीज़, तुम्हें भी मारती है और जो चीज़ तुम्हारे शरीर को मारती है, वह तुम्हारी आत्मा को भी मृत बना देती है। जैसा तुम्हारा भोजन होगा, तुम्हारा शरीर भी वैसा ही बन जाएगा। इसी तरह, जैसे विचार होंगे, आत्मा भी वैसी ही बन जाएगी......।"

- XXIV

"इसलिए हमेशा प्रभु के भंडार से भोजन ग्रहण करो: पेड़ों के मधुर फल, खेतों का अनाज और शाक-सब्जियाँ, पशुओं का दूध और शहद । इनके अतिरिक्त सब कुछ शैतान का है, जो पाप कर्म और रोगों के रास्ते से तुम्हें मौत की ओर ले जाता है। परन्तु जो भोजन तुम परमात्मा के भरपूर भंडार से ग्रहण करते हो, वह तुम्हें शक्ति और यौवन प्रदान करता है और तब कोई रोग तुम्हारे पास नहीं फटक सकता....।"

- XXV

परिशिष्ट - **1** (ग)

विहार या सामाजिक आचरण

संतों का एक कार्य इंसान को बनाना भी है। इंसान को आत्मा और परमात्मा को जानने के सर्वोच्च आदर्श के योग्य बनाना, संतों का पहला और सबसे मुख्य मिशन होता है। संत चाहते हैं कि सत्य के अभिलाषी, मन, बुद्धि और शरीर से पूर्णतया पवित्र बनें, क्योंकि इस प्रकार पूर्ण बनकर ही मनुष्य, आत्मा और शरीर के बीच की जटिल गाँठ को खोलने का कार्य शुरू कर सकता है। एक अधूरा या अपूर्व इंसान, न तो स्वयं को और न ही प्रभु को जान सकता है। एक जिज्ञासु जीव को किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिए? यह प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है, पर इसी की सबसे ज़्यादा अवहेलना की जाती है, इसे नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है। एक आम इंसान को इस बारे में बहुत कम ज्ञान मिल पाता है, जिसे वह या तो समाज से ग्रहण करता है या धर्म में आस्था रखने वाले लोगों के छुटपुट इशारों से या फिर धर्मग्रंथों के अध्ययन से। इसके बावजूद, मनुष्य इसके लिए किसी निश्चित कार्यक्रम या नियम को अपनाने की कोई कोशिश नहीं करता, बौद्धिक स्तर पर भी नहीं। वास्तव में उसके पास कभी इतना वक़्त ही नहीं होता कि वह इस समस्या पर कोई ध्यान दे। शायद धार्मिक संकीर्णता या भय, धार्मिक आचार्यों को लोगों का ध्यान इस तरफ़ खींचने से रोकता है। शक्तिशाली भोगवाद के कारण, भोजन संबंधी कोई नियमावली बनाना भी उन्हें व्यर्थ का कार्य जान पड़ता है। फिर भी कुछ लोग हैं, जिनका दृष्टिकोण विकृत नहीं है और वे खुले दिमाग़ से पूर्वी देशों के साहित्य को पढ़ते हैं। परन्तु विशिष्ट विदेशी शब्दावली के कारण, जो उनके लिए एकदम नयी है, उन्हें बहुत सी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। ये शब्द अपने आप में स्पष्ट नहीं हैं और पाठक, लेखक के भाव को पूरी तरह समझ नहीं पाता।

प्राचीन काल के ऋषि–मुनियों ने मानव–जीवन की समस्या को पूर्णतया समझा–देखा था। पूर्णता की खोज में लगे मानव को एक उपयुक्त जीवन पद्धति

और जीने का एक सही ढंग प्रदान करने के लिए उन्होंने जीवन के विभिन्न पक्षों का गूढ़ अध्ययन किया। इस प्रकार सार्वभौमिक संस्कृति की एक ऐसी संतोषजनक रूपरेखा बनाई गई, जिससे आत्म–ज्ञान और परम सत्य की प्राप्ति संभव थी। उन्होंने सुव्यवस्थित ढंग से गुणों का विश्लेषण किया। ये गुण कर्मों की सभी गतिविधियों की रीढ़ और उनका मूल स्रोत हैं, जिनके आधार पर मन चलायमान रहता है। इस विश्लेषण के उपरांत उन्होंने गुणों को तीन हिस्सों में बाँटा, जो एक–दूसरे से एकदम अलग हैं :

1. सतोगुण : यह कर्म करने का सर्वश्रेष्ठ ढंग है अर्थात मानसिक संतुलन रखते हुए नेक–पाक जीवन बिताना।

2. रजोगुण : इसे कर्म करने का मध्यम मार्ग कहा जाता है, जिसमें लेन–देन के व्यापारिक ढंग से कार्य किया जाता है।

3. तमोगुण : कर्म करने का यह निकृष्टतम तरीक़ा है। इसमें इंसान दूसरों का कोई ख़्याल रखे बिना, पूर्णतया अपने स्वार्थ हेतु जीता है।

कुछ उदाहरणों की मदद से इस विषय को सरलता से समझा जा सकता है :

(अ) मिसाल के लिए दूसरों की सेवा और सहायता की बात लें :

1. 'क' ने दूसरों की सेवा को अपने जीवन का सिद्धांत बना लिया है परन्तु अपने ऐसे कार्यों के बदले में वह किसी भी सेवा या सहायता की आशा नहीं रखता। "नेकी कर, दरिया में डाल," यही उसका नियम है।

2. 'ख' सेवा और मदद करने के बाद, स्वयं के लिए वैसी ही सेवा और मदद चाहता है। व्यापार में लेन–देन की तरह यह सेवा का आदान–प्रदान है– "दूसरों से वैसा ही व्यवहार करो, जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ करें।"

3. 'ग' न तो किसी की सेवा करता है, न मदद, परन्तु वह समझता है कि उसे दूसरों से सेवा कराने का हक़ है, जिसके बदले में वह कुछ भी देने के लिए बाध्य नहीं है।

(ब) अब दान के प्रश्न पर विचार करें :

1. 'क' देता है और भूल जाता है, वह बदले में कुछ नहीं चाहता। उसका सिद्धांत असहायों और निर्धनों की निःस्वार्थ सेवा करना है।

2. 'ख' दान करता है और किसी न किसी रूप में, बदले में कुछ चाहता है।

3. 'ग' ज़रूरत के वक़्त दान और सहायता ले तो लेता है, परन्तु बदले

में कुछ नहीं देता, चाहे उसके पड़ोस में ही कोई भारी मुसीबत में क्यों न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'क' का आचरण सबसे उत्तम है और यही सतोगुण है। उसके नेक कार्य प्रत्येक की नज़र में और यहाँ तक कि प्रभु की दरगाह में भी सराहे जाते हैं। दूसरी ओर, 'ख' को अपने नेक कर्मों का कोई श्रेय नहीं मिलता, क्योंकि वह अपने लेन–देन और सौदेबाज़ी के व्यवहार के कारण सारा हिसाब लगभग बराबर कर लेता है और उसके ख़ाते में कुछ भी शेष नहीं रहता। 'ग' का आचरण सर्वथा विपरीत है। वह स्वयं पर कर्ज़ या देनदारी का बोझ लाद लेता है, जिसके लिए उसे कर्म–प्रक्रिया से गुज़रना पड़ेगा, शायद अंतहीन जन्मों तक।

इसलिए संत यही सलाह देते हैं कि मनुष्य पहली तरह का जीवन अपनाएँ और यदि कभी ज़रूरत पड़े, तो किसी भी हालत में दूसरी अवस्था से नीचे न जाए। इस तरीक़े से कोई भी, अपने जीने का ढंग तय करके अपनी ज़िंदगी को उसके अनुरूप ढ़ाल सकता है। संसार में एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के व्यवहार के लिए इतना काफ़ी है। लेकिन यह अपने आप में हमारा लक्ष्य नहीं है, बल्कि लक्ष्य–प्राप्ति का साधन मात्र है। हमारा लक्ष्य तो निःहकर्म बनना है, जो न केवल इच्छा या मोह रहित होकर कर्म करना है, बल्कि कर्मों को स्वधर्म मानकर करना है। ऐसा करने पर हमारे सामने अन्तर के रहस्य खुलते चले जाते हैं और हमें उस प्यार, रोशनी और ज़िंदगी के महासागर का अनुभव होता है, जिसमें कि हम वास्तव में रहते हैं और जो कि हमारा जीवन आधार है, वैसे ही, जैसे पानी मछली का।

परिशिष्ट - II

आत्म-समर्पण का जीवन

आध्यात्मिक पथ पर मनुष्य की सफलता में व्यक्तिगत आचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रभु या उसके भेजे हुए किसी सत्स्वरूप महापुरुष की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण और प्रेम भरा विश्वास एक सत्याभिलाषी के जीवन का मूल सिद्धांत है।

संत–महात्मा और सब धर्मग्रंथ यही कहते हैं कि हमें संसार में रहते हुए, इससे अलिप्त रहकर, एक त्यागपूर्ण जीवन जीना चाहिए अर्थात संसार और इसके पदार्थों से पूर्ण अनासक्ति रहनी चाहिए। हमारा जीवन एक कमल की भाँति होना चाहिए, जिसकी जड़ें कीचड़ में होती हैं, लेकिन खुद गंदले पानी से ऊपर रहता है, या एक राजहंस की तरह होना चाहिए, जो जन्म से ही पानी में रहता है और शान से उस पर तैरता है, लेकिन ज़रूरत पड़ने पर जब चाहे, सूखे पंखों से ऊपर उड़ सकता है।

अपने आसपास के वातावरण से विरक्ति और मन–बुद्धि एवं शरीर से ऊपर उठना तभी संभव है, जब व्यक्ति अपनी इच्छा को प्रभु–इच्छा या गुरु–इच्छा में मिला देता है, क्योंकि तब वह महज़ एक कठपुतली की तरह कार्य करता है, जिसकी डोर किसी और के हाथ में होती है और वह उसी के इशारों पर नाचती है। इसी को पूर्ण समर्पण कहा जाता है, जिसमें साधक मूक याचना करता है, "हे प्रभु, मेरी नहीं अपितु आपकी इच्छा पूर्ण हो।" इस प्रकार का भाव रखने से, निहकर्म बनने में हमें बहुत मदद मिलती है। प्रकटतः संसार के सब कार्य करते हुए भी, वास्तव में ऐसा इंसान अपनी ओर से कुछ नहीं करता, बल्कि वह प्रभु की रज़ा और अपने सत्गुरु की इच्छानुसार कार्य करता है। अपने गुरु में उसे संपूर्ण दिव्य योजना दिखाई पड़ती है और वह जीवनधारा के साथ केवल बहता है और स्वयं को उन अदृश्य हाथों में, जो उसकी समस्त क्रियाओं का संचालन करते हैं, एक खिलौना मात्र समझता है।

आत्म–समर्पण का अर्थ है– अपना सर्वस्व अर्थात यह शरीर, धन–संपत्ति और मन, प्रभु या गुरु को अर्पित कर देना। इसका यह अर्थ नहीं कि वह पूरी तरह दिवालिया हो जाएगा, जैसा कि कुछ लोग अनुमान लगाते हैं। प्रभु और उसके बंदे तो इन सब चीज़ों के दाता होते हैं और उन्हें उन सब उपहारों की ज़रूरत नहीं होती, जिन्हें स्वयं उन्होंने अपने बच्चों की भलाई और उचित उपयोग के लिए खुले हाथों से लुटाया होता है। हम अज्ञानतावश इन्हें अपना मान कर बहुत रौब से इन पर अधिकार जताते हैं और ग़लत या सही तरीक़े से इन्हें प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। एक बार इन्हें हासिल कर लेने पर हम अपना संपूर्ण बल और बुद्धि लगाकर, ईर्ष्यापूर्वक इनकी हिफ़ाज़त करते हैं। इन पदार्थों के मोह में पड़कर हम इनसे बुरी तरह चिपटे रहते हैं और उस महान दाता को भूल जाते हैं। इस प्रकार यह माया चुपके से हमारे अन्दर प्रवेश कर जाती है, जो कि सब दुखों की जड़ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये सब पदार्थ, जो हमें प्राप्त हैं, हमारे हैं, लेकिन वे हमें अस्थाई तौर पर एक पवित्र अमानत की तरह दिए गए हैं, ताकि हम इन्हें दाता की निर्मल इच्छा के अनुसार बरतें।

माया के देश में रहते हुए सांसारिक बुद्धि के बल पर हम यहाँ के बुरे प्रभावों को ग्रहण करने से नहीं बच सकते, जो कि निर्विघ्न दिन–प्रतिदिन जमा होते रहते हैं और अंततः एक विशाल दीवार बनकर हमें चारों तरफ़ से घेर लेते हैं। हम विवेक खोकर सच्चाई को भूल जाते हैं और पिंड और पिंडी मन (भौतिक शरीर और भौतिक मन) का रूप बन जाते हैं। इन धुँधले शीशों और उन पर भी पड़े पर्दों की वजह से हमारी दृष्टि अवरुद्ध हो जाती है और हम सच्चाई की उस सफ़ेद जगमगाहट को नहीं देख पाते, जो कि इनसे ढ़की हुई है। संत हमें सच्चाई से अवगत कराते हैं और इन भ्रामक शीशों को तोड़ने और दृष्टि में बाधक बने पर्दों को हटाने में हमारी मदद करते हैं। तब यही संसार हमें प्रभु की सुंदर कलाकृति नज़र आता है। वे हमें बताते हैं कि यह संसार जिसे हम देखते हैं, प्रभु का प्रतिबिम्ब या अक्स है और प्रभु स्वयं इसमें बसता है। इसलिए हमें चाहिए कि शरीर, मन और धन–संपत्ति इत्यादि, जो प्रभु के वरदान हमें मिले हैं, उन्हें वैसा ही शुद्ध और निर्मल रखें, जैसे कि वे हमें दिए गए थे और प्रभु और उसकी क़ायनात की सेवा में, उसकी दिव्य इच्छा के अनुरूप सद्बुद्धिपूर्वक उनका उपयोग करें– प्रभु की इच्छा, जो हमेशा हमारे अस्तित्व के साथ मौजूद है (अन्यथा, हमारा अस्तित्व ही कहाँ होता?)। लेकिन संसार के भयंकर भँवरजाल में

फँसकर, बहुत दिनों तक सच्चाई से दूर रहने के कारण हम प्रभु–इच्छा को भूल जाते हैं। इस प्रकार अन्तर में स्थित जीवनधारा, प्रभु की 'ज्योति' और 'श्रुति' से हमारा संपर्क टूट जाता है। संत हमें बाहर से हटकर अंतर्मुख होने की प्रेरणा देते हैं और समझाते हैं कि वास्तविक जीवन क्या है। वे बताते हैं कि हमारा यह जीवन इस शरीर से और शरीर इन कपड़ों (सांसारिक धन–संपत्ति) से कहीं अधिक मूल्यवान है, जिनसे कि हम अपने तुच्छ मन और शरीर को ढ़कते हैं और भूलवश इन्हें अपना समझकर, विषय–सुख और दिखावे के लिए अहंकारपूर्वक इनका अंधाधुंध उपभोग करते हैं।

यदि एक बार हम देहाभास से ऊपर उठ सकें, तो हमें ज्ञात होगा कि हम क्या हैं और किस प्रकार हम प्रभु के दिए उपहारों को विषय–सुख, निजी स्वार्थ या अस्थाई सत्ता के लिए उपयोग न करके, प्रभु और उसकी सृष्टि की सेवा में लगा सकते हैं। यही वह महान शिक्षा है, जो ऋषि अष्टावक्र ने राजा जनक को सत्य का वास्तविक अनुभव देने के बाद दी थी। इसके लिए हमें अपने दिल के ख़ज़ाने से अहंकारजन्य मोह के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खोना पड़ता और इससे हम निर्धन भी नहीं होते क्योंकि तब परम पिता परमात्मा हमें और अधिक प्यार भरे उपहार देता है, क्योंकि वह देखता है कि उसका फ़िज़ूलख़र्च पुत्र अब समझदार हो गया है। इसे कहते हैं, तन–मन–धन सहित अपने तुच्छ अहम् को प्रभु के आगे समर्पित करना और अपने वास्तविक उद्देश्य को पाना या'नी निहकर्म बनना।

इस बात को और स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं। गुरु नानकदेव जी की परम्परा में पाँचवे गुरु, श्री गुरु अर्जनदेव जी के समय भाई भिखारी नाम के एक आदर्श शिष्य हुए हैं। एक बार गुरु जी के एक शिष्य ने इच्छा ज़ाहिर की कि वह किसी सच्चे गुरु भक्त के दर्शन करना चाहता है। गुरु जी ने एक पत्र देकर उसे भाई भिखारी के पास भेज दिया और कुछ दिन तक उनके पास ठहरने को कहा। भाई भिखारी ने अपने गुरु भाई का बड़ी गर्मजोशी से स्वागत किया और अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसकी सेवा की। वह व्यक्ति जिस दिन वहाँ पहुँचा था, तब भाई भिखारी बड़े शांत भाव से एक कपड़ा सी रहे थे, जो देखने में कफ़न मालूम होता था। कुछ दिन वहाँ ख़ुशी से बिताकर वह शिष्य वापस जाने लगा, तब भिखारी जी ने उससे कुछ दिन और ठहर कर अपने पुत्र के विवाह में शामिल होने की प्रार्थना की। वह शिष्य उनके प्यार भरे आग्रह को ठुकरा न सका और रुक गया। विवाह का दिन आया तो चारों तरफ़

हँसी–खुशी का वातावरण था, लेकिन भाई भिखारी सदा की तरह शांत थे। वह शिष्य बाक़ी लोगों की तरह बारात में शामिल हुआ, विवाह–संस्कार देखा और दुल्हन की डोली के साथ वापिस आ गया। भाग्य का खेल, अगले ही दिन भाई भिखारी का इकलौता पुत्र, वह नवविवाहित युवक अचानक बीमार पड़ा और मर गया। भिखारी जी ने शांत–भाव से वह कपड़ा निकाला जिसे उन्होंने कुछ दिन पूर्व इसी प्रयोजन के लिए तैयार किया था। उन्होंने पुत्र के शव को उसमें लपेटा और श्मशान भूमि ले जाकर उसी शांतभाव से उसका दाह–संस्कार कर दिया। भाई भिखारी को जीवन के विभिन्न रूपों में एक समान दृढ़ और शांतचित्त देखकर वह शिष्य आश्चर्य से दंग रह गया क्योंकि उनमें खुशी या दुख की लेशमात्र भी झलक नहीं थी, बल्कि वहाँ तो प्रभु की इच्छा के समक्ष पूर्ण समर्पण का भाव था, जिसे वह शिष्य शुरू से ही देख रहा था। उन्होंने किसी भी तरह का भाव प्रकट किए बिना प्रभु–इच्छा के अनुसार प्रत्येक कार्य किया।

गुरु नानकदेव जी प्रार्थना किया करते थे :

मेरा कीआ कछू न होइ।। करि है रामु होइ है सोइ।।

– आदि ग्रंथ (भैरउ नामदेव, पृ॰1165)

इसी प्रकार संत कबीर स्वयं को प्रभु का कुत्ता कहा करते थे :

कबीर कूकरु राम को, मुतीआ मेरो नाउ।।
गले हमारे जेवरी, जह खिंचै तह जाउ।।

– आदि ग्रंथ (सलोक कबीर, पृ॰1368)

ईसा मसीह सदा यही प्रार्थना किया करते थे :

स्वर्ग की तरह, धरती पर भी प्रभु की इच्छा पूर्ण हो।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 6:10)

हिन्दु साधुओं की नित्य प्रार्थना का समापन "तेरी इच्छा पूर्ण हो" ('तेरा भाणा मीठा लागै') कहकर होता है। इसी तरह मुस्लिम दरवेश और ईसाई पादरी 'तथास्तु' या 'आमीन' कहते हैं, जिसका अर्थ है, "ऐसा ही हो।"

इस सबसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सत्गुरु के सच्चे शिष्य और स्वयं सत्गुरु हमेशा यही सोचते हैं कि प्रभु या गुरु के अतिरिक्त उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसे लोग भूत, भविष्य और वर्तमान को एक खुली किताब की

तरह पढ़ लेते हैं और प्रभु की इच्छा के अनुसार कार्य करते हैं। इससे व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि प्रभु उन्हीं की सहायता करता है, जो उसकी इच्छा पूरी करते हैं। लेकिन यह उन्हीं के लिए है, जिनका विश्वास दृढ़ है, न कि उन साधारण मनुष्यों के लिए जो सदा इंद्रियों के घाट पर रहते हैं, क्योंकि वे इस नियम के अधीन कार्य करते हैं कि ईश्वर उन्हीं की मदद करता है, जो स्वयं अपनी मदद करते हैं। समर्पण के स्तर और विश्वास की मात्रा के अनुसार, आत्म–समर्पण के गुण का फल अवश्य मिलता है। जैसे–जैसे व्यक्ति इस रास्ते पर तरक़्क़ी करता है, अनुभव द्वारा उसे धीरे–धीरे इसके महत्त्व का पता चलता है और वह उस अवस्था को प्राप्त कर लेता है जहाँ उसकी और प्रभु की इच्छा एक हो जाती है और वह अपना अस्तित्व खोकर निःहकर्म अर्थात संपूर्ण मानव जाति का सरताज या उसकी शान बन जाता है। प्रभु की स्वाभाविक दयालुता पर प्यार–भरा विश्वास और प्रभु–इच्छा के आगे पूर्ण समर्पण करने से मनुष्य प्रभु–प्राप्ति के मार्ग पर सहज ही आगे बढ़ने लगता है। ये दो चीज़ें रहस्यपूर्ण 'सिम–सिम' या जादुई चाबी की तरह हैं, जो प्रभु के राज्य का द्वार खोल देती हैं, जो कि मानव देह रूपी मंदिर में अर्थात हम सब में मौजूद है।

> क्या तुम नहीं जानते कि तुम ही प्रभु के मंदिर हो, जहाँ वास्तव में प्रभु रहता है?
>
> – पवित्र बाइबिल (I कुरिन्थियों 3:16)

.....यही सब धर्मग्रंथ कहते हैं।